हिन्दी :

प्रथम पाँच सस्करण ३२ हजार ५००
(अक्टूबर, १९७७ ई० से जनवरी, १९८५ ई० तक)
छठवाँ ५ हजार २००
(१ जनवरी, १९८८ ई०)

गुजराती :

प्रथम दो सस्करण ७ हजार ५०० (जुलाई, १९७९ से जनवरी, १९८१)

मराठी :

प्रथम सस्करण ३ हजार १०० (जनवरी, १९८१)

कन्नड़ :

प्रथम सस्करण २ हजार २०० (जनवरी, १९८१)

तमिल :

प्रथम सस्करण १ हजार २०० (जनवरी, १९८१)

अंग्रेजी :

प्रथम मस्करण २ हजार २०० (जनवरी, १९८१)

योग : ५३ हजार ९००



मूल्य : छह रुपये



मुद्रक

प्रिन्स ऑफसैट प्रिण्टर्स
१५१० पटोदी हाउस
दरियागज, दिल्ली-११०००६



स्व० सेठ श्री पूरनचन्दजी गोदीका, जयपुर

जन्म : २७ जुलाई, १९१४ **निधन : १० नवम्बर, १९८९**

निज भगवान आत्मा, वीतरागी तत्त्वज्ञान एव उसके प्रतिपादक वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु तथा आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी एव आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य श्री कानजी स्वामी के प्रति आपकी अटूट आस्था थी। इसी के वल पर आपने अपना जीवन तो सार्थक किया ही, समाज को इसका भरपूर लाभ मिले; इसके लिए पडित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट की स्थापना भी की।

हम लोगो को सर्वप्रकार लौकिक सुविधाए जुटाने के साथ-साथ निरन्तर धर्म मार्ग पर चलने के सस्कार डाले एव जीवनभर निरन्तर प्रेरित करते रहे।

आपके मगलमय भविष्य की कामना करते हुए आपकी अत्यन्त प्रिय पुस्तक 'धर्म के दशलक्षण' धर्मप्रेमी वन्धुओ को प्रदान कर आपके प्रति अपनी श्रद्धा समर्पित करते हैं।

हम हैं आपके

सुधीरकुमार गोदीका (पुत्र) श्रीमती शशिकला सेठी (पुत्री)
सुशीलकुमार गोदीका (पुत्र) श्रीमती ऊषा गोदीका (पुत्रवधु)
मनोज, मयूर, सौरभ (पौत्र) श्रीमती ममता गोदीका (पुत्रवधु)
श्रीमती मोना भारिल्ल (पौत्री)

प्रस्तुत पुस्तक स्वाध्याय-मनन-चिन्तन हेतु सादर समर्पित

प्रकाशकीय

[छठवाँ संस्करण]

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल की लोकप्रिय कृति 'धर्म के दशलक्षण' का हिन्दी भाषा मे छठवाँ संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है।

दशलक्षण महापर्व ही एकमात्र ऐसा पर्व है, जो परमोदात्त भावनाओ का प्रेरक, वीतरागता का पोषक तथा संयम व साधना का पर्व है। सम्पूर्ण भारतवर्ष का जैन समाज इसे प्रतिवर्ष बड़े ही उत्साह से मनाता है। दश दिन तक चलनेवाले इस महापर्व के अवसर पर अनेक धार्मिक आयोजन होते हैं, जिनमें विद्वानो के उत्तमक्षमादि दशधर्मो पर व्याख्यान भी आयोजित किए जाते है। सब जगह सुयोग्य विद्वानो का पहुँच पाना सम्भव नही हो पाता, अतः जैसा गम्भीर व मार्मिक विवेचन उक्त धर्मो का होना चाहिए, वैसा सहज सम्भव नही होता है।

इधर विगत पाँच दशकों से पूज्य श्री कानजी स्वामी द्वारा जो अध्यात्म की पावनधारा निरन्तर प्रवाहित हो रही है, उसने जैन समाज मे एक आध्यात्मिक क्रान्ति पैदा कर दी है। उनके उपदेशो से प्रभावित होकर लाखों लोग आत्महित की ओर मुड़े हैं। सैकड़ो आध्यात्मिक प्रवक्ता विद्वान तैयार हुए हैं, जो प्रतिवर्ष इस अवसर पर प्रवचनार्थ बाहर जाते हैं।

इस पुस्तक के लेखक डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल भी उन गिने-चुने उच्चकोटि के विद्वानो मे से एक हैं, जिन्हे पूज्य स्वामीजी से सन्मार्ग मिला है। दशलक्षण पर्व पर प्रतिवर्ष जहाँ भी वे जाते रहे हैं, वहाँ दशधर्मों पर उनके मार्मिक व्याख्यान होने पर आवाल-गोपाल सभी उनसे सीमातीत प्रभावित होते रहे हैं।

अनेक आग्रहो-अनुरोधों के बावजूद तथा उनका स्वय का विचार होते हुए भी वे व्याख्यान निबद्ध न हो सके, पर सन् १९७६ मे डॉ० भारिल्लजी के कन्धों पर जब हिन्दी आत्मधर्म के सम्पादन का भार आया, तब वे व्याख्यान निबद्ध होकर सम्पादकीयो के रूप मे क्रमशः आत्मधर्म मे प्रकाशित हुए। उक्त निबन्धों का निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक मार्मिक विवेचन

जव सुवोध, सतर्क तथा आकर्षक शैली में पाठको तक पहुँचा तो वे झूम उठे। सामान्य पाठको ने ही नही, पूज्य स्वामीजी ने भी उनकी मुक्तकण्ठ से भरपूर सराहना की। स्थान-स्थान से यह माग आने लगी कि इन्हे शीघ्र ही अनेक भाषाओ मे पुस्तकाकार प्रकाशित कर जन-जन तक पहुँचाया जाय, इनका व्यापक प्रचार-प्रसार किया जाय, जिससे डॉक्टर साहव के चिन्तन का लाभ जन-जन को मिल सके।

सन् १९७७ एवं १९७८ मे सोनगढ मे डॉ० भारिल्लजी के ही निर्देशन में प्रवचनकार-प्रशिक्षण शिविर आयोजित किये गये। इनमें प्रवचनकारों को इन निवन्धो का अध्ययन कराया गया, जिससे शताधिक प्रवचनकारो के माध्यम से यह वात गाँव-गाँव मे पहुँचने लगी।

आत्मधर्म के हिन्दी, मराठी, कन्नड़ और तमिल संस्करण में सम्पादकीय के रूप में दश हजार प्रतियो मे प्रकाशित होने के साथ-साथ इन निवन्धो की पुस्तकाकार रूप मे हिन्दी मे वत्तीस हजार पाँच सौ, गुजराती मे सात हजार पाँच सौ, मराठी मे इक्तीस सौ, कन्नड़ में इक्कीस सौ, तमिल में वारह सौ प्रतियाँ तथा अंग्रेजी मे वाईस सौ प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी है। यह कृति आत्मधर्म हिन्दी एव गुजराती के ग्राहको को भेंट के रूप मे भी दी गई है। हिन्दी भाषा मे ५,२०० प्रतियों का यह छठवाँ सस्करण प्रकाशित हो रहा है।

इसप्रकार अल्पकाल मे ही इन निवन्धो की १०,००० सम्पादकीयो एवं ५३,९०० पुस्तकाकार रूप मे अर्थात् कुल ६३,९०० (तिरेसठ हजार नौ सौ) प्रतियो का प्रकाशन लेखक की लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

लेखक की लोकप्रियता के विषय मे और अधिक क्या लिखे ? पूर्व मे आपके द्वारा लिखित पुस्तको (जिनकी सूची पृष्ठ १८० पर अंकित है) के अतिरिक्त जिनवरस्य नयचक्रम् (पूर्वार्द्ध), गोम्मटेश्वर वाहुवली, चैतन्य-चमत्कार, आप कुछ भी कहो, गागर मे सागर, सार समयसार, विदेशो मे जैनधर्म . उभरते पदचिह्न, अहिंसा : महावीर की दृष्टि में, जिनेन्द्र वन्दना आदि आपकी नवीनतम रचनाये है। साथ ही ट्रस्ट द्वारा सत्य की खोज (कथानक) का वड़े साइज मे भी प्रकाशन किया गया है और अव तो वाहुवली प्रोडक्शन द्वारा इसकी वीडियो फिल्म भी तैयार हो चुकी है, जिसका प्रदर्शन वड़े उत्साह से स्थान-स्थान पर किया जा रहा है। आपके द्वारा सम्पादित साहित्य मे मोक्षमार्गप्रकाशक, वृहद्‌जिनवाणी सग्रह, प्रवचनरत्नाकर भाग १, २, ३, ४ एव ५, परमार्थवचनिका प्रवचन एवं ज्ञानगोष्ठी प्रमुख है। मोक्षमार्गप्रकाशक, समयसार, प्रवचनसार, नियमसार

पंचास्तिकाय, अष्टपाहुड़, आचार्य अमृतचन्द्र : व्यक्तित्व और कर्त्तत्व एव रत्नकरण्डश्रावकाचार की विस्तृत प्रस्तावनाएँ भी आपने लिखी हैं, जो मूलत: पठनीय है।

'वीतराग-विज्ञान' के सम्पादकीयो के रूप में प्रकाशित होनेवाली बारह भावनाओं सबंधी लेखमाला भी 'बारह भावना : एक अनुशीलन' के नाम से पुस्तकाकार मे प्रकाशित हो चुकी है।

आप मात्र लोकप्रिय लेखक ही नहीं प्रभावक वक्ता, एक अच्छे सम्पादक, कुशल अध्यापक एव सफल नियोजक भी हैं। पूज्य गुरुदेव श्री कानजी स्वामी की आप पर परम कृपा रही है। वे बारम्बार कहते थे –

'पण्डित हुकमचन्द तत्वप्रचार के क्षेत्र में एक हीरा है, वर्तमान में हो रहे तत्वप्रचार मे उसका बड़ा हाथ है।'

सच बात तो यह है कि पूज्य गुरुदेवश्री के प्रताप से ऐसे अनेक हीरे उत्पन्न हो गये हैं, जो अपने आत्मकल्याण की दृष्टि से तत्वप्रचार के कार्यों मे बिना किसी अपेक्षा के संलग्न है। उनका उपकार चुकाना तो असम्भव है। पूज्य गुरुदेवश्री की छत्रछाया मे डॉ० हुकमचन्दजी द्वारा अध्यात्म जगत को जो अनेक सेवाये प्राप्त हो रही हैं, उनका संक्षेप मे उल्लेख करना यहाँ असंगत न होगा।

श्री, दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ के मुखपत्र आत्मधर्म के हिन्दी, मराठी, कन्नड़ और तमिल इन चार सस्करणो का सम्पादन तो आपके द्वारा हुआ ही है। अब आप हिन्दी आत्मधर्म का प्रकाशन किन्ही कारणो से अवरुद्ध हो जाने के कारण, उसी के स्थान पर पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 'वीतराग-विज्ञान' के सम्पादक हैं।

वीतराग-विज्ञान हिन्दी के ग्राहक आरम्भ से ही नये बनाने पड़े हैं, फिर भी हमे यह बताते हुए गौरव का अनुभव हो रहा है कि अल्पकाल मे ही आज उसके ४४०० तो आजीवन ग्राहक है और अभी इसकी ६५०० प्रतियाँ छप रही हैं।

आपके सपादकत्व मे वीतराग-विज्ञान अब मराठी मे आरम्भ हो गया है और तमिल में आरम्भ होने जा रहा है।

श्री कुन्दकुन्द कहान दिगम्बर जैन तीर्थ सुरक्षा ट्रस्ट, बम्बई द्वारा सचालित श्री टोडरमल दिगम्बर जैन सिद्धात महाविद्यालय के तो आप प्राण ही हैं। उक्त विद्यालय ने अल्पकाल मे ही समाज मे अभूतपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की है। अब समाज को यह आशा बँध गई है कि इसके द्वारा विलुप्त

प्राय हो रही पण्डित-पीढी को नया जीवनदान मिलेगा। इसकी पूर्ति होना भी विगत छह वर्षो से प्रारम्भ हो चुकी है। अब तक टोडरमल महाविद्यालय के माध्यम से ४८ जैनदर्शन शास्त्री, १३ जैनदर्शनाचार्य विद्वान एवं तीन शास्त्री प्रथम वर्ष उत्तीर्ण विद्वान समाज को प्राप्त हो चुके है। भविष्य मे भी लगभग १२ शास्त्री विद्वान समाज को प्रतिवर्ष प्राप्त होते रहेगे।

पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट द्वारा सचालित वीतराग-विज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड, जिसमे प्रतिवर्ष लगभग बीस हजार छात्र-छात्रायें धार्मिक परीक्षा देते है, डॉक्टर साहब ही चला रहे है। उसकी पाठ्यपुस्तके नवीनतम शैली में प्रायः आपने ही तैयार की है। उन्हे पढ़ाने की शैली मे प्रशिक्षित करने के लिए ग्रीष्मकालीन अवकाश मे प्रतिवर्ष या वर्ष मे दो बार भी प्रशिक्षण-शिविर डॉक्टर साहब के निर्देशन में आयोजित किये जाते हैं, जिनमे वे स्वय अध्यापकों को प्रशिक्षित करते है।

अवतक २१ शिविरो में ३८१४ अध्यापक प्रशिक्षित हो चुके हैं। तत्सम्बन्धी 'प्रशिक्षण निर्देशिका' भी आपने लिखी है।

श्री टोडरमल ग्रन्थमाला से अभी तक प्रायः आपके ही सम्पादन मे १८ लाख की संख्या में ७२ पुष्प प्रकाशित हो चुके है। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट मे धार्मिक साहित्य का बिक्री विभाग भी चलता है, जो प्रति वर्ष लगभग तीन लाख रुपये का धार्मिक साहित्य जन-जन तक पहुँचाता रहा है। बड़े ही आश्चर्य व प्रसन्नता की बात है कि इस वर्ष तो पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के इस बिक्री विभाग ने तीन लाख चौरासी हजार का सत्साहित्य घर-घर पहुँचाया है।

भारतवर्षीय वीतराग-विज्ञान पाठशाला समिति के भी आप मत्री हैं। इस पाठशाला समिति के प्रयत्नो से देश मे ३७३ वीतराग-विज्ञान पाठशालाएँ नवीन आरम्भ हुई हैं, हजारों छात्र धार्मिक शिक्षा प्राप्त करते है।

इनके अतिरिक्त निरन्तर होनेवाले आपके प्रभावशाली प्रवचनो से जयपुर ही नही, सम्पूर्ण भारतवर्ष लाभ उठाता है, जिससे तत्वप्रचार को अभूतपूर्व गति मिलती है। हर्ष की बात है कि २७ जून, १९८४ से ८ अगस्त, १९८४ तक पहली बार आपने अमेरिका और यूरोप के प्रमुख नगरो का दौरा किया। वहाँ आपके प्रवचनो से लोग इतने प्रभावित हुए कि तभी से प्रतिवर्ष आपका कार्यक्रम निर्धारित किया जाने लगा। इसप्रकार अब तक आप चार बार अमेरिका व यूरोप के प्रमुख नगरों मे

जैनधर्म का डका बजा चुके हैं। आपके कार्यक्रमों से वहाँ अभूतपूर्व धर्मप्रभावना हो रही है। और तो और प्रतिवर्ष विदेशी भाई-बहनों के लाभार्थ टोडरमल स्मारक, जयपुर में एक शिविर भी आयोजित होने लग गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री के पुण्य प्रताप से चलनेवाली अन्य गतिविधियो में भी आपका बौद्धिक सहयोग निरन्तर होता रहता है।

साधारण जनता के साथ-साथ विद्वद्-समाज ने भी इस कृति को दिल खोलकर सराहा है। समाजमान्य विद्वानों की कुछ सम्मतियाँ पुस्तक के अन्त मे दी गई है। विश्वास नही था कि इतनी अल्प अवधि में ही इस पुस्तक का हिन्दी भाषा में छठवाँ संस्करण प्रकाशित करना होगा।

यद्यपि यह आत्मधर्म मे प्रकाशित लेखो का ही पुस्तकाकार प्रकाशन है, तथापि इसमें आवश्यक संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन भी किये गये हैं। अभी तक के इसके दो सस्करण श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ की ओर से जयपुर प्रिन्टर्स, जयपुर द्वारा मुद्रित हुए हैं। तृतीय, चतुर्थ, पंचम एव षष्ठम सस्करण पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित किये गये हैं।

दशलक्षण महापर्व एक ऐसा अवसर है, जब सारे देश में आध्यात्मिक वातावरण बन जाता है। इस अवसर पर प्रवचनार्थ विद्वानों की माँग बहुत बढ जाती है। पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट के पास ही इस वर्ष २५६ स्थानो से माँग थी, पर हम २२२ स्थानों पर ही विद्वान भेज सके हैं। जहाँ विद्वान नही पहुँच पाते, वहाँ की समाज के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी है। एक भाई इसका वाचन करे और सब शान्ति से सुने तो वही आनन्द आयेगा, जो एक विद्वान के प्रवचन सुनने से आता है। यह लिखते हुए हमें प्रसन्नता का अनुभव हो रहा कि अनेक स्थानों पर इसप्रकार के प्रयोग हुए भी हैं। जो पूर्णतः सफल रहे हैं।

इस षष्ठम सस्करण की कीमत कम करने हेतु ब्र. दुलीचद पारमार्थिक ट्रस्ट, इन्दौर द्वारा ५,००२ रु (पाँच हजार दो रुपये) तथा श्री जयन्तीभाई कोटडिया, अमेरिका द्वारा १,१११ रु. (एक हजार एक सौ ग्यारह रुपये) की राशि प्राप्त हुई है, जिसके कारण कागज की इतनी मंहगाई में भी पुस्तक की कीमत इतनी कम रखी जा सकी है। इस सहयोग के लिए हम उन सभी के हृदय से आभारी हैं।

यह सस्करण ऑफसैट पद्धति से मुद्रित किया गया है। इस व्यवस्था में साहित्य प्रकाशन विभाग के प्रबंधक श्री अखिल बंसल एम. ए., जे. डी. का विशेष सहयोग रहा है अतः उन्हे भी धन्यवाद देता हूँ। साथ ही प्रिन्स ऑफसैट, दिल्ली का भी आभार मानता हूँ जिन्होने इसे समय पर मुद्रित करने मे तत्परता दिखाई।

इस कृति से अधिक से अधिक लोग लाभ उठायें – इस पावन भावना के साथ विराम लेता हूँ। **– श्री नेमीचन्द पाटनी**

मन्त्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट

विषय-सूची

दशलक्षरण महापर्व

पर्वो की चर्चा जब भी चलतो है तब-तब उनका सबंध प्राय: खाने-पीने और खेलने से जोडा जाता है – जैसे रक्षाबधन के दिन खीर और लड्डू खाये जाते हैं, भोरे खेले जाते हैं, राखी बांधी जाती है, होली के दिन अमुक पकवान खाये जाते है, रग डाला जाता है, होली जलाई जाती है, दीपावली के दिन पटाके चलाये जाते हैं, दीपक जलाये जाते हैं, लड्डू चढाये जाते हैं एव अमुक पकवान खाये जाते हैं; आदि-आदि ।

पर अष्टाह्निका और दशलक्षरण जैसे जैन पर्वो का संबध खाने और खेलने से न होकर खाना और खेलना त्यागने से है । ये भोग के नही, त्याग के पर्व हैं; इसीलिए महापर्व है । इनकी महानता त्याग के कारण है, आमोद-प्रमोद के कारण नही ।

आप किसी भी जैन से पूछिये कि दशलक्षरण महापर्व कैसे मनाया जाता है तो वह यही उत्तर देगा कि इन दिनो लोग संयम से रहते हैं, पूजन-पाठ करते हैं, व्रत-नियम-उपवास रखते है, हरित पदार्थों का सेवन नही करते । स्वाध्याय और तत्त्व-चर्चा मे ही अधिकाश समय बिताते है । सर्वत्र बडे-वडे विद्वानो द्वारा शास्त्र सभाएँ होती हैं, उनमें उत्तमक्षमादि दश धर्मों का स्वरूप समझाया जाता है । सभी लोग कुछ न कुछ विरक्ति धारण करते हैं, दान देते हैं, आदि अनेक प्रकार के धार्मिक कार्यों मे सलग्न रहते हैं । सर्वत्र एक प्रकार से धार्मिक वातावरण वन जाता है ।

पर्व दो प्रकार के होते हैं – (१) शाश्वत और (२) सामयिक, जिन्हे हम त्रैकालिक और तात्कालिक भी कह सकते हैं ।

तात्कालिक पर्व भी दो प्रकार के होते हैं – (१) व्यक्ति विशेष से सवधित और (२) घटना विशेष से सवधित ।

दीपावली, महावीर जयन्ती, रामनवमी, जन्माष्टमी आदि पर्व व्यक्ति विशेप से संवंध रखने वाले पर्व हैं, क्योकि दीपावली और महावीर जयन्ती क्रमश. महावीर के निर्वाण और जन्म से सवध रखती हैं और रामनवमी और जन्माष्टमी राम और कृष्ण के जन्म से सवंधित हैं ।

घटना विशेष से सबधित पर्वों मे रक्षाबधन, अक्षयतृतीया, होली आदि पर्व आते हैं, क्योंकि ये प्रसिद्ध पौराणिक घटनाओ से सबध रखने वाले पर्व हैं। ऐतिहासिक घटनाओं से सबधित आज के राष्ट्रीय पर्व – स्वतत्रता दिवस और गणतत्र दिवस कहे जा सकते हैं।

त्रैकालिक अर्थात् शाश्वत पर्व न तो किसी व्यक्ति विशेष से संबंधित होते हैं, और न घटना विशेष से, वे तो आध्यात्मिक भावो से सबधित होते हैं। दशलक्षण महापर्व एक ऐसा ही त्रैकालिक शाश्वत पर्व है जो आत्मा के क्रोधादि विकारो के अभाव के फलस्वरूप प्रकट होने वाले उत्तमक्षमादि भावो से संबध रखता है।

घटनाओ और व्यक्ति विशेष से सबधित पर्व निश्चित रूप से अनादि नही हो सकते, क्योकि वे सबधित घटना या व्यक्ति से पूर्व सभव नही है। वे अनन्त भी नही हो सकते, क्योकि जब भविष्य मे कोई इनसे भी महत्त्वपूर्ण व्यक्ति उत्पन्न हो जायगा या घटना घट जायेगी तो जगत उसे याद रखने लगेगा, उससे सबधित पर्व मनाने लगेगा, इन्हे भूल जायगा। अगले तीर्थंकर उत्पन्न होने पर भविष्य मे उनकी जयन्ती और निर्वाण-दिवस मनाया जायगा, इनका नही। जिसप्रकार हम भूतकाल की चौबीसी को भूल-से बैठे हैं, उसीप्रकार भविष्य इन्हे भी याद नही रख पावेगा।

घटनाएँ और व्यक्ति कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यो न हो, वे सार्वभौम और सार्वकालिक नही हो सकते। उन सब की अपने-अपने क्षेत्र और काल संबधी सीमाएँ हैं, वे असीम नही हो सकते। अत वे ही पर्व सार्वभौम और सार्वकालिक हो सकते है, जो किसी व्यक्ति विशेष या घटना विशेष से संबंधित न होकर सभी जीवो से, उनके भावो से, समानरूप से सबधित हो। दशलक्षण महापर्व एक ऐसा ही महान पर्व है जो सब जीवो के भावो से समानरूप से सबधित है। यही कारण है कि वह शाश्वत है, सब का है, और सदा रहेगा। उसकी उपयोगिता सार्वभौमिक और सार्वकालिक है।

दशलक्षण महापर्व सम्प्रदायविशेष का नही, सब का है। भले ही उसे मात्र सम्प्रदायविशेष के लोग ही क्यो न मनाते हो, पर वह साम्प्रदायिक पर्व नही है, क्योकि वह साम्प्रदायिक भावनाओ पर आधारित पर्व नही है, उसका आधार सार्वजनिक है। विकारी भावों का परित्याग एव उदात्तभावो का ग्रहण ही उसका आधार है,

जो सभी को समानरूप से हितकारी है। अतः यह पर्व मात्र जैनो का नही, जन-जन का पर्व है। इसे सम्प्रदायविशेष का पर्व मानना स्वयं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है।

यह सब का पर्व है, इसका एक कारण यह भी है कि सभी प्राणी सुखी होना चाहते है और दु.ख से डरते हैं। क्रोधादि भाव दुख के कारण है और स्वय दुखस्वरूप है एवं उत्तमक्षमादि भाव सुख के कारण हैं और स्वय सुखस्वरूप है। अतः दुख से डरने वाले सभी सुखार्थी जीवो को क्रोधादि के त्यागरूप उत्तमक्षमादि दश धर्म परम आराध्य हैं।

इसप्रकार सभी को सुखकर और सन्मार्गदर्शक होने से यह दशलक्षरण महापर्व सभी का पर्व है।

क्रोधादि विभावभावो के अभावरूप उत्तमक्षमादि दश धर्मों का विकास ही जिसका मूल है, ऐसे दशलक्षरण महापर्व की सार्वभौमिकता का आधार यह है कि सर्वत्र ही क्रोधादिक को बुरा, अहितकारी और क्षमादि भावो को भला और हितकारी माना जाता है। ऐसा कौनसा क्षेत्र है जहाँ क्रोधादि को बुरा और क्षमादि को अच्छा न माना जाता हो ?

वह सार्वकालिक भी इसी कारण है, क्योकि कोई काल ऐसा नहीं कि जब क्रोधादि को हेय और उत्तमक्षमादि को उपादेय न माना जाता रहा हो, न माना जाता हो, और न माना जाता रहेगा। अर्थात् सर्वकालो मे इसकी उपादेयता असदिग्ध है। भूतकाल मे भी क्रोधादि मे दुख व अशान्ति तथा क्षमादि से सुख व शान्ति की प्राप्ति होती देखी गई है, वर्त्तमान मे भी देखी जाती है, और भविष्य मे भी देखी जायगी।

उत्तमक्षमादि धर्मों की सार्वभौमिक त्रैकालिक उपयोगिता एव सुखकरता के कारण ही दशलक्षरण महापर्व शाश्वत पर्वो मे गिना जाता है और इसी कारण यह महापर्व है।

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि यह महापर्व त्रैकालिक है, अनादि-अनन्त है, तो फिर इसके आरभ होने की कथा शास्त्रो मे क्यो आती है ? शास्त्रो मे आता है कि –

"कालचक्र के परिवर्तन मे कुछ स्वाभाविक उतार-चढाव आते है, जिन्हे जैन परिभाषा मे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के नाम से जाना जाता है। अवसर्पिणी में क्रमशः ह्रास और उत्सर्पिणी मे

क्रमश विकास होता है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी मे छह-छह काल होते है।

प्रत्येक अवसर्पिणी काल के अन्त मे जव पंचम काल समाप्त और छठा काल आरंभ होता है तब लोग अनार्यवृत्ति धारण कर हिंसक हो जाते हैं। उसके वाद जव उत्सर्पिणी आरभ होती है और धर्मोत्थान का काल पकता है तव श्रावण कृष्ण प्रतिपदा से सात सप्ताह (४६ दिन) तक विभिन्नप्रकार की बरसात होती है, जिसके माध्यम से सुकाल पकता है और लोगों मे पुन· अहिंसक आर्यवृत्ति का उदय होता है। एकप्रकार से धर्म का उदय होता है, आरभ होता है, और उसी वातावरण मे दश दिन तक उत्तमक्षमादि दश धर्मो की विशेष आराधना की जाती है तथा इसी आधार पर हर उत्सर्पिणी में यह महापर्व चल पड़ता है।"

यह कथा तो मात्र यह वताती है कि प्रत्येक उत्सर्पिणी काल मे इस पर्व का पुनरारम्भ कैसे होता है। इस कथा से दशलक्षण महापर्व की अनादि-अनन्तता पर कोई आँच नही आती।

यह कथा भी तो शाश्वत कथा है जो अनेक बार दुहराई गई है और दुहराई जायगी। क्योकि अवसर्पिणी के पंचम काल के अन्त मे जव-जव लोग इन उत्तमक्षमादि धर्मो से अलग हो जायेंगे और उत्सर्पिणी के प्रारभ काल मे जव-जव इसकी पुनरावृत्ति होगी, तव-तव उस युग मे दशलक्षण महापर्व का इस तरह आरभ होगा। वस्तुत यह युगारंभ की चर्चा है, पर्वारभ की नही। यह अनादि से अनेक युगो तक इसीप्रकार आरभ हो चुका है और भविष्य मे भी होता रहेगा।

इसकी अनादि-अनन्तता शास्त्र-सम्मत तो है ही, युक्तिसगत भी है। क्योकि जब से यह जीव है तभी से यद्यपि क्षमादिस्वभावी है, तथापि प्रकटरूप (पर्याय) मे क्रोधादि विकारो से युक्त भी तभी से है। इसीकारण ज्ञानानन्दस्वभावी होकर भी अज्ञानी और दुखी है। जबसे यह दुखी है, सुख की आवश्यकता भी तभी से है। चूंकि सभी जीव अनादि से है, अत सुख के कारण उत्तमक्षमादि धर्मो की आवश्यकता भी अनादि से ही रही है।

इसीप्रकार यद्यपि अनन्त आत्माएँ क्षमादिस्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर क्रोधादि से मुक्त हो चुकी हैं, तथापि उनसे भी अनन्तगुणी आत्माएँ अभी भी क्रोधादि विकारो से युक्त है, दुखी है,

अत. आज भी इन धर्मों की आराधना की पूरी-पूरी आवश्यकता है तथा सुदूरवर्ती भविष्य मे भी क्रोधादि विकारो से युक्त दुखी आत्माएँ रहने वाली है, अत भविष्य मे भी इनकी उपयोगिता असदिग्ध है।

तीनलोक मे सर्वत्र ही क्रोधादि दु ख के और क्षमादि सुख के कारण है। यही कारण है कि यह महापर्व शाश्वत अर्थात् त्रैकालिक और सार्वभौमिक है, सब का है। भले ही सब इसकी आराधना न करे, पर यह अपनी प्रकृति के कारण सब का है, सब का था, और सब का रहेगा।

यद्यपि अष्टाह्निका महापर्व के समान यह भी वर्ष मे तीन वार आता है – (१) भादो सुदी ५ से १४ तक, (२) माघ सुदी ५ से १४ तक, व (३) चैत्र सुदी ५ से १४ तक, तथापि सारे देश मे विशालरूप मे वडे उत्साह के साथ मात्र भादो सुदी ५ से १४ तक ही मनाया जाता है। बाकी दो को तो बहुत से जैन लोग भी जानते तक नही हैं। प्राचीन काल में बरसात के दिनो मे आवागमन की सुविधाओं के पर्याप्त न होने से व्यापारादि कार्य सहज ही कम हो जाते थे। तथा जीवो की उत्पत्ति भी बरसात मे बहुत होती है। अहिंसक समाज होने से जैनियो के साधुगण तो चार माह तक गाँव से गाँव भ्रमण बद कर एक स्थान पर ही रहते है, श्रावक भी बहुत कम भ्रमण करते थे। अत सहज ही सत्समागम एव समय की सहज उपलब्धि ही विशेष कारण प्रतीत होते है – भादो मे ही इसके विशाल पैमाने पर मनाये जाने के।

वैसे तो प्रत्येक धार्मिकपर्व का प्रयोजन आत्मा मे वीतराग भाव की वृद्धि करने का ही होता है, किन्तु इस पर्व का सबध विशेष रूप से आत्म-गुणो की आराधना से है। अत यह वीतरागी पर्व सयम और साधना का पर्व है।

पर्व अर्थात् मगल काल, पवित्र अवसर। वास्तव मे तो अपने आत्म-स्वभाव की प्रतीतिपूर्वक वीतरागी दशा का प्रगट होना ही यथार्थ पर्व है, क्योकि वही आत्मा का मगलकारी है और पवित्र अवसर है।

धर्म तो आत्मा मे प्रकट होता है, तिथि मे नही, किन्तु जिस तिथि मे आत्मा मे क्षमादिरूप वीतरागी शान्ति प्रकट हो, वही तिथि पर्व कही जाने लगती है। धर्म का आधार तिथि नही, आत्मा है।

आत्म-स्वरूप की प्रतीतिपूर्वक चारित्र (धर्म) की दश प्रकार से आराधना करना ही दशलक्षण धर्म है। आत्मा मे दश प्रकार के सद्भावों (गुणो) के विकास मे संबधित होने से ही इसे दशलक्षण महापर्व कहा जाता है।

अनादिकाल से ही प्रत्येक आत्मा, आत्मा में ही उत्पन्न, आत्मा के ही विकार – क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य, असयम आदि के कारण ही दुखी और अशान्त रहता आया है। अशान्ति और दुख मेटने का एक मात्र उपाय आत्माराधना है। आत्म-स्वभाव को जानकर, मानकर, उसी में जम जाने से, उसी मे समा जाने से, अतीन्द्रिय आनन्द और सच्ची शान्ति की प्राप्ति होती है। ऐसे ही आत्माराधक व्यक्ति के हृदय मे उत्तमक्षमादि गुणो का सहज विकास होता है। अत. यह स्पष्ट है कि उक्त पर्व का संवध आत्माराधना से है – प्रकारान्तर से उत्तमक्षमादि दश गुणों की आराधना से है।

क्षमादि दश गुणों को दश धर्म भी कहते है। ये दश धर्म है – (१) उत्तमक्षमा (२) उत्तममार्दव (३) उत्तमआर्जव (४) उत्तम सत्य (५) उत्तमशौच (६) उत्तमसयम (७) उत्तमतप (८) उत्तम त्याग (९) उत्तमआकिंचन्य, और (१०) उत्तमब्रह्मचर्य।

ये दश धर्म नही, धर्म के दश लक्षण है, जिन्हे सक्षेप में दशधर्म शब्दो से भी अभिहित कर दिया जाता है। जिस आत्मा में आत्म-रुचि, आत्म-ज्ञान और आत्म-लीनतारूप धर्म पर्याय प्रकट होती है, उसमे धर्म के ये दश लक्षण सहज प्रकट हो जाते हैं। ये आत्माराधन के फलस्वरूप प्रकट होने वाले धर्म है, लक्षण हैं, चिह्न है।

यद्यपि उक्त दश धर्म चारित्रगुण की निर्मल पर्यायें है, तथापि प्रत्येक के साथ लगा हुआ उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की अनिवार्य सत्ता को सूचित करता है। तात्पर्य यह है कि ये चारित्र गुण की निर्मल दशाएँ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी आत्मा को ही प्रकट होती हैं, अज्ञानी मिथ्यादृष्टि को नही।

वस्तुत चारित्र ही साक्षात् धर्म है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो चारित्ररूप वृक्ष की जडे (मूल) हैं। जैसे वृक्ष जड के विना खडा नही रह सकता, पनप नही सकता, अथवा जड के विना जैसे वृक्ष की एक प्रकार से सत्ता ही संभव नही है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानरूपी जड़ के बिना सम्यक्चारित्ररूपी वृक्ष खड़ा ही नही रह

सकता, पनप नही सकता, अथवा इन दोनो के बिना सम्यक्चारित्र की सत्ता की कल्पना भी नही की जा सकती है।

यद्यपि लोक मे वहुत से लोग आत्म-श्रद्धान और आत्म-ज्ञान के बिना भी बधन के भय एव स्वर्ग-मोक्ष तथा मान-प्रतिष्ठा आदि के लोभ से क्रोधादि कम करते या नही करते-से देखे जाते है, तथापि वे उत्तमक्षमादि दशधर्मों के धारक नही माने जा सकते हैं।

इस संबंध में महापडित टोडरमलजी के विचार दृष्टव्य हैं –

"तथा बधादिक के भय से अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादि नही करते, परन्तु वहाँ क्रोधादि करने का अभिप्राय तो मिटा नही है। जैसे – कोई राजादिक के भय से अथवा महतपने के लोभ से परस्त्री का सेवन नही करता, तो उसे त्यागी नही कहते। वैसे ही यह क्रोधादिक का त्यागी नही है।

तो कैसे त्यागी होता है ? पदार्थ अनिष्ट–इष्ट भासित होने से क्रोधादिक होते हैं, जव तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई इष्ट-अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयमेव ही क्रोधादि उत्पन्न नही होते; तब सच्चा धर्म होता है।"[1]

इसप्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानपूर्वक क्रोधादि का नही होना ही उत्तमक्षमादि धर्म है।

यद्यपि उक्त दशधर्मो का वर्णन शास्त्रो मे जहाँ-तहाँ मुनिधर्म की अपेक्षा किया गया है, तथापि ये धर्म मात्र मुनियो को धारण करने के लिए नही हैं, गृहस्थो को भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार इन को अवश्य धारण करना चाहिए। धारण क्या करना चाहिए, वस्तुत वात तो ऐसी है कि ज्ञानी गृहस्थ के भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार ये होते ही हैं, इनका पालन सहज पाया जाता है।

तत्त्वार्थसूत्र में गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा (वारह भावना) और परीषहजय के साथ ही उत्तमक्षमादि दशधर्मों की चर्चा की गई है।[2] ये सव मुनिधर्म से सवधित विषय हैं। यही कारण है कि जहाँ-जहाँ इनका वर्णन मिलता है, उसका उत्कृष्टरूप का ही वर्णन मिलता है। इससे आतंकित होकर सामान्य श्रावको द्वारा इनकी उपेक्षा सगत नही है।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२८

[2] स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरिषहजयचारित्रैः (अ० ९ सूत्र २)

यदि मुनियों को अनन्तानुबंधी आदि तीन कषायो के अभावरूप उत्तमक्षमादि धर्म होगे तो पंचम गुणस्थानवर्ती ज्ञानी श्रावको के अनन्तानुबंधी आदि दो कषायो के अभावरूप उत्तमक्षमादि धर्म होगे। इसीप्रकार चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत सम्यग्दृष्टि के एकमात्र अनन्तानुबंधी कषाय के अभावरूप धर्म उत्तमक्षमादि धर्म प्रकट होगे। मिथ्यादृष्टि के उत्तमक्षमादि धर्म नही होते। उसकी कषाये कितनी भी मद क्यो न हो, उसके उक्त धर्म प्रगट नही हो सकते, क्योकि उक्त धर्म कषाय के अभाव से प्रकट होने वाली पर्यायें है, मदता से नही। मंदता से जो तारतम्यरूप भेद पडते हैं, उन्हे शास्त्रो मे लेश्या सज्ञा दी है, धर्म नही। धर्म तो मिथ्यात्व और कषाय के अभाव का नाम है, मदता का नही।

इन धर्मों की व्याख्या अनेक पहलुओं (दृष्टिकोणो) से सभव है। जैसे मुनियों और श्रावको की अपेक्षा, निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा, अन्तर और बाह्य की अपेक्षा आदि।

इनमे से प्रत्येक धर्म स्वतत्ररूप से विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखता है। आगे प्रत्येक पर विस्तृत विश्लेषण किया ही जारहा है।

अत अब यहाँ इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ कि इस दशलक्षण महापर्व के पावन अवसर पर सभी आत्माएँ धर्म के उक्त दश लक्षणो को अच्छी तरह जानकर, पहिचानकर, तद्रूप परिणमन कर परमसुखी हो।

उत्तमक्षमा

क्षमा आत्मा का स्वभाव है। क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा मे जो क्रोध के अभावरूप शान्ति-स्वरूप पर्याय प्रकट होती है, उसे भी क्षमा कहते हैं। यद्यपि आत्मा क्षमास्वभावी है तथापि अनादि से आत्मा मे क्षमा के अभावरूप क्रोध पर्याय ही प्रकटरूप से विद्यमान है।

जब-जब उत्तमक्षमादि धर्मों की चर्चा चलती है तब-तब उनका स्वरूप अभावरूप ही बताया जाता है। कहा जाता है – क्रोध का अभाव क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है, माया का अभाव आर्जव है – आदि।

क्या धर्म अभावस्वरूप (Negative) है? क्या उसका कोई भावात्मक (Positive) रूप नही है? यदि है, तो क्यो नही उसे भावात्मक रूप में प्रस्तुत किया जाता?

क्रोध नही करना, मान नही करना, छल-कपट नही करना, हिंसा नही करना, चोरी नही करना, आदि न जाने कितने निषेध समा गये है धर्म मे। धर्म क्या मात्र निषेधो का नाम है? क्या उसका कोई विधेयात्मक पक्ष नही? यदि धर्म मे पर से निवृत्ति की बात है तो साथ मे स्व मे प्रवृत्ति की भी चर्चा कम नही है।

यह नही करना, वह नही करना, प्रतिबंधो की भाषा है। बधन से छूटने का अभिलाषी मोक्षार्थी जब धर्म के नाम पर भी बधनो की लम्बी सूची सुनता है तो घबड़ा जाता है। वह सोचता है कि यहाँ आया था बधन से छूटने का मार्ग खोजने के लिये और यहाँ तो अनेक प्रतिबधो मे बाधा जा रहा है। धर्म तो स्वतन्त्रता का नाम है। जिसमे अनन्त बधन हो, वह धर्म कैसा?

तो क्या धर्म प्रतिबधो का नाम है, अभावस्वरूप है?

नही, धर्म तो वस्तु के स्वभाव को कहते हैं, अत वह सद्भावस्वरूप ही होता है, अभावस्वरूप नही। पर क्या करें, हमारी भाषा उल्टी हो गई है। क्रोध का अभाव क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है – के स्थान पर हम ऐसा क्यो नही कहते कि क्षमा का अभाव क्रोध है, मार्दव का अभाव मान है, आर्जव का अभाव मायाचार है, आदि।

जरा विचारिए – ज्ञान का अभाव अज्ञान है या अज्ञान का अभाव ज्ञान ? 'ज्ञान' मूल शब्द है, उसमें निषेधवाचक 'अ' लगाकर 'अज्ञान' शब्द बना है, अत स्वत सिद्ध है कि ज्ञान का अभाव अज्ञान है।

वस्तु का स्वभाव तो धर्म होता ही है, साथ ही स्वभाव के अनुरूप पर्याय को अर्थात् स्वभावपर्याय को भी धर्म कहा जाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र स्वभावपर्याय होने से ही धर्म है। विभाव (विभाव पर्याय) को अधर्म कहते हैं।

ज्ञान आत्मवस्तु का स्वभाव है, अत धर्म है। सम्यग्ज्ञानपर्याय को भी ज्ञान कहते हैं, अत. सम्यग्ज्ञान भी धर्म है। अज्ञान (मिथ्याज्ञान-पर्याय) आत्मा का विभाव है, अत वह अधर्म है। इसीप्रकार क्षमा आत्मा का स्वभाव है, अत. वह तो धर्म है ही; साथ ही क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाली क्षमाभावरूप स्वभावपर्याय भी धर्म है, किन्तु क्षमास्वभावी आत्मा जब क्षमास्वभावरूप परिणमन न करके विभावरूप परिणमन करता है, तो उसके उस विभाव परिणमन को क्रोध कहा जाता है।

क्रोध आत्मा का एक विभाव है और वह क्षमा के अभावस्वरूप प्रकट हुआ है। यद्यपि वह सतति की अपेक्षा से अनादि का है तथापि प्रति समय नया-नया उत्पन्न होता है, अत सत्य तो यह है कि क्षमा का अभाव क्रोध है, पर कहा यह जाता है कि क्रोध का अभाव क्षमा है। इसका कारण यह है कि अनादि से यह आत्मा कभी भी क्षमादि स्वभावरूप परिणमित नही हुआ, क्रोधादि विकाररूप ही परिणमित हुआ है, और जब भी क्षमादि स्वभावरूप परिणमित होता है तो क्रोधादि का अभाव हो जाता है। अत क्रोधादि का अभावपूर्वक क्षमादिरूप परिणमन देखकर उक्त कथन किया जाता है।

यदि ज्ञान के समान ही इसका प्रयोग अपेक्षित हो तो वह इस प्रकार किया जा सकता है – ज्ञान का अभाव अज्ञान, क्षमा का अभाव अक्षमा (क्रोध), मार्दव का अभाव अमार्दव (मान), आर्जव का अभाव अनार्जव (मायाचार-छल कपट) आदि।

जब कोई यह नही कहता कि अज्ञान मत करो, पर यही कहा जाता है कि ज्ञान करो, तब क्रोध मत करो के स्थान पर क्षमा धारण करो, क्यो नही कहा जाता ? इसका भी कारण है, और वह यह कि हम क्रोध, मान, माया आदि से परिचित हैं, वे हमारे नित्य

अनुभूत विभाव है। क्षमादि हमारे लिए अपरिचित और अननुभूत से हैं। परिचित से अपरिचित की ओर अनुभूत से अननुभूत की तरफ जाना ही सहज होता है।

दुनियाँ की स्थिति यह है कि उसे जब यह कहा जाता है कि क्रोध नही करना क्षमा है तो उसे सतोष हो जाता है, पर उसे यह कहा जाय कि क्षमा नही करना क्रोध है तो अटपटा लगता है, कुछ समझ मे नही आता। अत क्रोध की परिभाषा सदा भावात्मक (Positive) समझाई जाती है। जैसे – क्रोध गुस्से को कहते हैं, जब क्रोध आता है तो आँखे लाल हो जाती हैं, शरीर काँपने लगता है, ओठ फडकने लगते हैं, आदि।

यहाँ एक प्रश्न हो सकता है कि आचार्यो ने भी तो इसीप्रकार समझाया है। आचार्यों के सामने भी एक समस्या थी कि उन्हे क्रोधियों को क्षमा समझानी थी, अत क्षमा को भी क्रोध के माध्यम से समझाना पड़ा। व्यवहारी को व्यवहार की भाषा मे समझाना पडता है। मुनिजन क्षमा के भडार होते है। यदि वे अपनी ओर से बोलेंगे तो यही बोलेंगे कि क्षमा का अभाव क्रोध है, पर दुनियाँ मे भाव होता है वक्ता का और भाषा होती है श्रोता की। यदि श्रोता की भाषा मे न बोला गया तो वह कुछ समझ ही न सकेगा।

अत. ज्ञानीजन समझाना तो चाहते है क्षमाधर्म, पर समझाते हैं क्रोध की बात करके। बच्चो से बात करने के लिए उनकी ओर से बोलना पडता है। जब हम बच्चे से कहते हैं कि माँ को बुलाना, तब हमारा आशय बच्चो की माँ से होता है, अपनी माँ से नही, क्योकि हम जानते हैं कि ऐसा कहने पर बच्चा अपनी माँ को ही बुलायेगा, हमारी माँ को नही।

इसीप्रकार जब हमें भी क्षमा को क्रोध की भाषा मे ही समझाना है तो पहिले क्रोध को ही अच्छी तरह स्पष्ट करना समुचित होगा।

यद्यपि यह आत्मा ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है, स्वभाव से स्वय परिपूर्ण है, तथापि कुछ विकृतियाँ, कमजोरियाँ तब से ही इसके साथ जुडी हुई हैं, जब से यह है। उन कमजोरियों को शास्त्रकारो ने विभाव कहा, कषाय कहा, और न जाने क्या-क्या नाम दिये, उनके त्याग का उपदेश भी कम नही दिया; सच्चे सुख को प्राप्त करने का उपाय भी उनके त्याग को ही बताया।

महात्माओ के अनेक उपदेशो और आदेशों के वावजूद भी प्राणी इनसे बच नही पाया। इन कमजोरियो के कारण प्राणियो ने अनेक कष्ट उठाये है, उठा रहे हैं, और उठायेगे। इन से वचने के लिये भी उपाय कम नही किये गये, पर वात वही की वही रही।

जिन विकारों के कारण, जिन कमजोरियो के कारण, जिन कषायों के कारण प्राणी सफलता के द्वार तक पहुँच कर भी कई बार असफल हुआ, सुख-शान्ति के शिखर पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहने पर भी पहुँच नही पाया, उन विकारो मे, उन कमजोरियो मे, उन कषायो मे सबसे वडा विकार, सबसे वडी कमजोरी और सबसे वड़ी कषाय है क्रोध।

क्रोध आत्मा की एक ऐसी विकृति है, ऐसी कमजोरी है, जिसके कारण उसका विवेक समाप्त हो जाता है, भले-बुरे की पहिचान नही रहती। जिसपर क्रोध आता है, क्रोधी उसे भला-वुरा कहने लगता है, गाली देने लगता है, मारने लगता है; यहाँ तक कि स्वय की जान जोखम मे डालकर भी उसका बुरा करना चाहता है। यदि कोई हितैपी पूज्य पुरुष भी बीच मे आवे तो उसे भी भला-बुरा कहने लगता है, मारने तक को तैयार हो जाता है। यदि इतने पर भी उसका बुरा न हो तो स्वय वहुत दुखी होता है, अपने ही अगो का घात करने लगता है, माथा कूटने लगता है, यहाँ तक कि विषादि भक्षण करके मर तक जाता है।

लोक मे जितनी भी हत्याएँ और आत्म-हत्याएँ होती हैं, उनमे से अधिकाश क्रोधावेश में ही होती है। क्रोध के समान आत्मा का कोई दूसरा शत्रु नही है।

क्रोध करने वाले को जिसपर क्रोध आता है, वह उसकी ओर ही देखता है, अपनी ओर नही देखता। क्रोधी को जिसपर क्रोध आता है, उसी की गलती दिखाई देती है, अपनी नही, चाहे निष्पक्ष विचार करने पर अपनी ही गलती क्यो न निकले। पर क्रोधी विचार करता ही कव है? यही तो उसका अन्धापन है कि उसकी दृष्टि पर की ओर ही रहती है और वह भी पर मे विद्यमान-अविद्यमान दुर्गुणो की ओर ही, गुणो को तो वह देख ही नही पाता। यदि उसे पर के गुण दिखाई दे जावे तो फिर उस पर क्रोध ही क्यो आवे, फिर तो उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होगी।

यदि मालिक के स्वय के पैर से ठोकर खाकर काच का गिलास फूट जावे तो एकदम चिल्लाकर कहेगा कि इधर वीच मे गिलास किसने रख दिया ? उसे गिलास रखने वाले पर क्रोध आएगा, स्वय पर नही। वह यह नही सोचेगा कि मैं देखकर क्यो नही चला ?

यदि वही गिलास नौकर के पैर की ठोकर से फूटे तो चिल्लाकर कहेगा – देखकर नही चलता, अधा है। फिर उसे वीच मे गिलास रखने वाले पर क्रोध न आकर ठोकर देने वाले पर आएगा, क्योकि वीच में गिलास रखा तो स्वय उसने है।

गलती हमेशा नौकर की ही दिखेगी चाहे स्वय ठोकर दे, चाहे नौकर के पैर की ठोकर लगे, चाहे स्वय गिलास रखे, चाहे दूसरे ने रखा हो।

यदि कोई कह दे कि गिलास तो आप ही ने रखा था और ठोकर भी आपने मारी, अब नौकर को क्यों डाटते हो ? तब भी यही वोलेगा कि इसे उठा लेना चाहिए था, इसने उठाया क्यो नही ? उसे अपनी भूल दिख ही नही सकती, क्योकि क्रोधी 'पर' मे ही भूल देखता है, स्वय मे देखने लगे तो क्रोध आएगा कैसे ? यही कारण है कि आचार्यों ने क्रोधी को क्रोधान्ध कहा है।

क्रोधान्ध व्यक्ति क्या-क्या नही कर डालता ? सारी दुनियाँ मे मनुष्यो द्वारा जितना भी विनाश होता देखा जाता है, उसके मूल मे क्रोधादि विभाव ही देखे जाते हैं। द्वारिका जैसी पूर्ण विकसित और सम्पन्न नगरी का विनाश द्वीपायन मुनि के क्रोध के कारण ही हुआ था। क्रोध के कारण सैकडो घर-परिवार टूटते देखे जाते हैं।

अधिक क्या कहे – जगत मे जो कुछ भी बुरा नजर आता है, वह सव क्रोधादि विकारो का ही परिणाम है।

कहा भी है –

'क्रोधोदयाद् भवति कस्य न कार्यहानि '[1]

क्रोध के उदय मे किसकी कार्य-हानि नही होती, अर्थात् सभी की हानि होती है।

हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'क्रोध' नामक निबंध मे इसका अच्छा विश्लेषण किया है।

---

[1] आत्मानुशासन, छन्द २१६

क्रोध एक शान्ति भग करने वाला मनोविकार है। वह क्रोध करने वाले की मानसिक शान्ति तो भग कर ही देता है, साथ ही वातावरण को भी कलुषित और अशान्त कर देता है। जिसके प्रति क्रोध-प्रदर्शन होता है, वह तत्काल अपमान का अनुभव करता है और इस दुख पर उसकी भी त्यौरी चढ जाती है। यह विचार करने वाले बहुत थोड़े निकलते है कि हम पर जो क्रोध प्रकट किया जा रहा है वह उचित है या अनुचित।

क्रोध का एक खतरनाक रूप है बैर। बैर क्रोध से भी खतरनाक मनोविकार है। वस्तुत वह क्रोध का ही एक विकृत रूप है। बैर क्रोध का आचार या मुरब्बा है। क्रोध के आवेश में हम तत्काल बदला लेने की सोचते है। सोचते क्या हैं—तत्काल बदला लेने लगते है। जिसे शत्रु समझते हैं, क्रोधावेश मे उसे भला-बुरा कहने लगते हैं, मारने लगते हैं। पर जब हम तत्काल कोई प्रतिक्रिया व्यक्त न कर मन मे ही उसके प्रति क्रोध को इस भाव से दबा लेते हैं कि अभी मौका ठीक नही है, अभी प्रत्याक्रमण करने से हमे हानि हो सकती है, शत्रु प्रबल है, मौका लगने पर बदला लेगे; तब वह क्रोध बैर का रूप धारण कर लेता है और वर्षों दबा रहता है तथा समय आने पर प्रकट हो जाता है।

ऊपर से देखने पर क्रोध की अपेक्षा यह विवेक का काम विरोधी नजर आता है, पर यह है क्रोध से भी अधिक खतरनाक, क्योकि यह योजनाबद्ध विनाश करता है, जबकि क्रोध विनाश की योजना नही बनाता, तत्काल जो जैसा सभव होता है, कर गुजरता है। योजनाबद्ध विनाश सामान्य विनाश से अधिक खतरनाक और भयानक होता है।

यद्यपि जितनी तीव्रता और वेग क्रोध मे देखने मे आता है— उतना बैर मे नही, तथापि क्रोध का काल बहुत कम है, जबकि बैर पीढी-दर-पीढी चलता रहता है।

क्रोध और भी अनेक रूपो मे पाया जाता है। झल्लाहट, चिड-चिडाहट, क्षोभ आदि भी क्रोध के ही रूप है। जब हमे किसी की कोई बात या काम पसन्द नही आता है और वह बात बार-बार हमारे सामने आती है तो हम झल्ला पडते हैं। बार-बार की झल्ला-हट चिड़चिडाहट मे बदल जाती है। झल्लाहट और चिडचिडाहट असफल क्रोध के परिणाम हैं। ये एक प्रकार से क्रोध के हलके-फुलके रूप हैं। क्षोभ भी क्रोध का ही अव्यक्त रूप है।

ये सभी विकार क्रोध के ही छोटे-वडे रूप हैं। सभी मानसिक शान्ति को भग करने वाले है, महानता की राह के रोडे हैं। इनके रहते कोई भी व्यक्ति महान नही बन सकता, पूर्णता को प्राप्त नही हो सकता। यदि हमे महान वनना है, पूर्णता को प्राप्त करना है तो इन पर विजय प्राप्त करनी ही होगी, इन्हे जीतना ही होगा। पर कैसे ? आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी के अनुसार –

"अज्ञान के कारण जब तक हमें पर-पदार्थ इष्ट-अनिष्ट प्रतिभासित होते रहेगे तब तक क्रोधाधि की उत्पत्ति होती ही रहेगी, किन्तु जव तत्त्वाभ्यास के बल से पर-पदार्थों मे से इष्ट-अनिष्ट बुद्धि समाप्त होगी तब स्वभावत क्रोधादि की उत्पत्ति नही होगी।"

आशय यह है कि क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण, अपने सुख-दु.ख का कारण दूसरों को मानना है। जव हम अपने सुख-दुख का कारण अपने मे खोजेंगे, उनका उत्तरदायी अपने को स्वीकारेंगे, तो फिर हम क्रोध करेंगे किस पर ?

अपने अच्छे-बुरे और सुख-दुख का कर्त्ता दूसरो को मानना ही क्रोधादि की उत्पत्ति का मूल कारण है।

क्षमा के साथ लगा उत्तम शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली क्षमा ही उत्तमक्षमा है।

यहाँ एक प्रश्न सभव है – जबकि क्षमा का सवध क्रोध के अभाव से है तो फिर उसका सम्यग्दर्शन से क्या सबध ? यह शर्त क्यो – कि उत्तमक्षमा सम्यग्दृष्टि को ही होती है, मिथ्यादृष्टि को नही ? जिसको क्रोध नही हुआ उसके उत्तमक्षमा हो गई, चाहे वह मिथ्यादृष्टि हो या सम्यग्दृष्टि। मिथ्यादृष्टि के उत्तमक्षमा हो ही नही सकती, यह अनिवार्य शर्त्त क्यो ?

भाई ! वात ऐसी है कि क्रोध का अभाव आत्मा के आश्रय से होता है। मिथ्यादृष्टि के आत्मा का आश्रय नही है, अत उसके क्रोध का अभाव नही हो सकता। इसलिए मिथ्यादृष्टि के क्रोध नही हुआ, यह वनता ही नही है। उसे जो 'क्रोध नही हुआ' ऐसा देखने मे आता है, वह तो क्रोध का प्रदर्शन नही हुआ वाली वात है। क्योकि कभी-कभी जव क्रोध मन्द होता है तो क्रोध का प्रदर्शन नही देखा जाता है, उसे ही अज्ञानी क्रोध का अभाव समझ लेते हैं और उत्तमक्षमा कहने लगते है। वस्तुत वह उत्तमक्षमा नही, उत्तमक्षमा का भ्रम है।

अब प्रश्न यह पैदा होता है कि मिथ्यादृष्टि के क्रोध का अभाव क्यो नही हो सकता ? उसके सदा अनन्तक्रोध क्यो रहता है ? इसका उत्तर यह है कि पर मे कर्तृत्वबुद्धि से ही अनन्तानुबन्धी क्रोध उत्पन्न होता है। जब कोई परपदार्थ उसकी इच्छा के अनुकूल परिणमित नही होता है, तो वह उस पर क्रोधित हो उठता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लोक मे जो-जो परपदार्थ उसकी इच्छा के अनुकूल परिणमित न होगे, वे सब उसके क्रोध के पात्र होगे। परपदार्थ हैं अनन्त, अत. अभिप्राय मे अनन्त परपदार्थ उसके क्रोध के पात्र हुए; यही है अनन्तानुबन्धी क्रोध, क्योंकि उसने अनन्त परपदार्थों से अनुबन्ध किया है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि मिथ्यादृष्टि के परपदार्थो मे कर्तृत्व बुद्धि रहती है। इसकारण उसके क्रोधादि मद भले ही हो जाएँ, किन्तु जब उसके अनन्तानुबन्धी कषाय का भी अभाव नही होता है तो उत्तमक्षमादि धर्म प्रकट कैसे हो सकते है ?

दूसरी बात यह भी तो है कि उत्तमक्षमादि दशधर्म सम्यक्-चारित्र के ही रूप हैं और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन के बिना होता नही, इसलिए यह स्वत. सिद्ध है कि मिथ्यादृष्टि के उत्तमक्षमादि धर्म प्रकट नही हो सकते।

निश्चय से तो क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से पर्याय मे क्रोधरूप विकार की उत्पत्ति नही होना ही उत्तम क्षमा है, पर व्यवहार से क्रोधादि के निमित्त मिलने पर भी उत्तेजित नही होना, उनके प्रतिकाररूप प्रवृत्ति नही होने को भी उत्तमक्षमा कहा जाता है। दशलक्षण पूजन मे उत्तमक्षमा का वर्णन करते हुए कविवर द्यानतरायजी ने कहा है :-

"गाली सुन मन खेद न आनौ, गुन को औगुन कहै बखानौ।
कहि है बखानौ वस्तु छीनै, बाँध-मार बहुविधि करै।
घरतै निकारै तन विदारै, वैर जो न तहाँ धरै।।"

उक्त छन्द मे निमित्तो की प्रतिकूलता मे भी जो शान्त रह सके, वही उत्तमक्षमा का धारी है; ऐसा कहा गया है। गाली सुनकर भी जिसके हृदय मे खेद उत्पन्न न हो, वह उत्तमक्षमावान है।

बहुत से लोग ऐसा कहते पाये जाते हैं कि वैसे तो मेरा स्वभाव एकदम शांत है, पर कोई छेड दे तो फिर मुझसे शांत नही रहा जाता।

उनसे मेरा कहना है कि ऐसा कोई व्यक्ति बताइए कि जिसकी हम प्रशंसा करें और उसे क्रोध आवे। प्रशंसा सुनकर तो लोगों को मान आता है, क्रोध नही। क्षमा का धारी तो वह है, जिसे गालियाँ सुनकर भी क्रोध न आवे।

यहाँ तो और भी ऊँची बात की है। क्रोध की उग्रता तो दूर, मन में भी खेद तक उत्पन्न न हो, तब क्षमा है। किन्ही बाह्य कारणो से क्रोध व्यक्त न भी करे, पर मन मे खेद-खिन्न हो जावे तो भी क्षमा कहाँ रही ? जैसे – मालिक ने मुनीम को डाँटा-फटकारा, तो नौकरी छूट जाने के भय से मुनीम मे क्रोध के लक्षण तो प्रकट नही हुए, पर खेद-खिन्न हो गया तो वह क्षमा नही कहला सकती। इसीलिए तो लिखा है :– "गाली सुनि मन खेद न आनौ।"

जो 'गाली सुनकर चांटा मारें', वह काया की विकृति वाला है। 'गाली सुनकर गाली देवे', वह वचन की विकृति वाला है। 'गाली सुनकर खेद मन में लावे', वह मन की विकृति वाला है। परन्तु 'गाली सुन मन खेद न आवे', वह क्षमाधारी है।

इसके भी आगे कहते हैं कि 'गुन को औगुन कहै बखानौ।' हो हम में गुण, और सामने वाला औगुणरूप से वर्णन करे, और वह भी अकेले मे नही – भरी सभा में, व्याख्यान मे; फिर भी हम उत्तेजित न हों तो क्षमाधारी हैं।

कुछ लोग कहते हैं भाई ! हम गालियाँ बर्दाश्त कर सकते हैं, पर यह कैसे सभव है कि जो दुर्गुण हममें हैं ही नही, उन्हें कहता फिरे। उन्हे भी अकेले मे कहे तो किसी तरह सह भी लें, पर भरी सभा मे, व्याख्यान में कहे तो फिर तो गुस्सा आ ही जाता है।

कवि इसी बात को तो स्पष्ट कर रहा है कि गुस्सा आ जाता है, तो वह क्षमा नही, क्रोध ही है। मान लो तब भी क्रोध न आवे, हम सोच लें – बकने वाले बकते हैं तो बकने दो, हमे क्या है ? पर जब वह हमारी वस्तु छीनने लगे तब ? वस्तु छीनने पर भी क्रोध न करें, पर वह हमें बाँध दे, मारे और भी अनेक प्रकार पीड़ा दे तब ? इसी के उत्तर मे कवि ने कहा है :– "वस्तु छीने, बाँध मार बहुविधि करै।"

'बहुविधि करै' शब्द में बहुत भाव भरा है। आप में जितनी सामर्थ्य हो इसका अर्थ निकालिए। आज पीड़ा देने के अनेक नए-नए उपाय निकाल लिए गए हैं। विदेशी जासूसो के पकड़े जाने पर उनसे शत्रुओ के गुप्त भेद उगलवाने के लिए अनेक प्रकार की अमानुषिक

पीड़ाएँ दी जाती हैं, जिनकी आप कल्पना भी नही कर सकते हैं; 'वहुविधि करै' में वे सव आ जाती हैं। पीड़ा देने के जितने प्रकार आप कल्पना कर सकें, करिए; वे सव 'वहुविधि करै' में आ जावेंगे। फिर भी क्रोध न करे तव उत्तमक्षमा होगी, ऐसा कवि कहना चाहता है। वात यही पर समाप्त नही हुई, आगे भी वढ़ती है :–

"घरतै निकारै तन विदारै, वैर जो न तहाँ धरै।"

कोई दुष्ट अनेक प्रकार पीडाएं दे देकर चला जाए, पर वाद में हम घर मे रहकर उपचार और आराम तो कर सकते है, पर जव वह हमें घर से ही निकाल दे, तव क्या करें? घर से भी निकाल दे, पर शरीर स्वस्थ है तो कही न कही कुछ न कुछ करके जीवन चला ही लेगे। पर जव वह घर से भी निकाल दे और शरीर का भी विदारण कर दे, तव तो क्रोध आ ही जावेगा।

नही भाई! तव भी क्रोध न आवे तो उत्तमक्षमा है। तव भी कहाँ? मान लो क्रोध नही किया, पर मन में गाँठ वांध ली, वैर धारण कर लिया तो भी उत्तमक्षमा नही है।

क्रोध और वैर के वारे मे पहले स्पष्टीकरण किया जा चुका है। क्रोध किया जाता है और वैर धारण किया जाता है अर्थात् क्रोध मे तत्काल प्रतिक्रिया होती है और वैर मे मन मे गाँठ वाँध ली जाती है।

वैर आग है और आग जहाँ रखी जाएगी पहिले उसे जलाएगी, वाद में दूसरे को जलाए चाहे न जलाए। अत: वैर भी – जो धारण करता है, उसे ही जलाता है, जिसके प्रति वैर धारण किया है, उसे चाहे जला पाये अथवा नही भी; क्योंकि उसका भला-वुरा तो उसके पुण्य-पाप के उदय के आधीन है।

अत: यहाँ क्रोध के अभाव के साथ-साथ वैर के अभाव को उत्तमक्षमा कहा है।

पर ये सव वातें व्यवहार की हैं। निश्चय से तो वाह्य निमित्तो की प्रतिकूलताओ पर भी मात्र क्रोध की प्रवृत्ति दिखाई नही देना उत्तमक्षमा नही है। हो सकता है कि वाह्य मे क्रोधादि की प्रवृत्ति न भी दिखाई दे और अन्तर मे उत्तमक्षमा का विरोधी क्रोधभाव विद्यमान हो – तथा अन्तर मे आंशिक उत्तमक्षमा विद्यमान रहे, फिर भी वाह्य मे क्रोधादि मे प्रवृत्ति दिखाई दे।

अत निश्चय उत्तमक्षमा समझने के लिए कुछ गहराई में जाना होगा।

शास्त्रों में क्रोध चार प्रकार का कहा गया है। (१) अनन्तानुवन्धी (२) अप्रत्याख्यान (३) प्रत्याख्यान, और (४) सज्वलन। चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरतसम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी क्रोध का अभाव हो गया है, अतः उसे तत्सम्बन्धी उत्तम क्षमाभाव प्रकट हो गया है। पंचम गुणस्थानवर्ती अणुव्रती के अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानसम्बन्धी क्रोध के अभावजन्य उत्तमक्षमा विद्यमान है तथा छठवें-सातवे गुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनिराजो के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान सम्वन्धी क्रोध का अभाव होने से वे तीनों के अभाव संवंधी उत्तमक्षमा के धारक हैं। नौवे-दसवे गुणस्थान से ऊपर वाले तो पूर्ण उत्तमक्षमा के धारक हैं।

उक्त कथन शास्त्रीय भापा में हुआ, अत शास्त्रों के अभ्यासी ही समझ पाएँगे। इस सब का तात्पर्य यह है कि उत्तमक्षमा आदि का नाप बाहर से नही किया जा सकता है। कषायों की मंदता और तीव्रता पर उत्तमक्षमा आधारित नही है, उसका आधार तो उक्त कषायो का क्रमश. अभाव है। कषायो की मदता-तीव्रता के आधार पर जो भेद पडता है वह तो लेश्या है।

यद्यपि व्यवहार से मदकषाय वाले को भी उत्तमक्षमादि का धारण करने वाला कहा जाता है, पर अन्तर की दृष्टि से विचार करने पर ऐसा भी हो सकता है कि वह बाहर से तो विल्कुल शान्त दिखाई दे किन्तु अन्तर मे अनत क्रोधी हो अर्थात् अनन्तानुबन्धी का क्रोधी हो। नववें ग्रैवेयक तक पहुँचने वाले मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी मुनि वाहर से इतने शान्त दिखाई देते हैं कि उनकी खाल खीचकर नमक छिडके तव भी उनकी आँख की कोर लाल न हो, फिर भी शास्त्रकारो ने कहा है कि वे उत्तमक्षमा के धारक नही हैं, अनन्तानुवन्धी के क्रोधी हैं, क्योकि उनके अन्तर से आत्मा की अरुचिरूपी क्रोध का अभाव नही हुआ है। वाह्य में जो क्रोध का अभाव दिखाई देता है उसका कारण आत्मा के आश्रय से उत्पन्न शान्ति नही है, वरन् जिस चिन्तन के आधार पर वे शान्त रहे हैं, वह पराश्रित ही रहता है। जैसे—वे सोचते हैं कि यदि मैं साधु हुआ हूँ तो मुझे शान्त रहना ही चाहिए। यदि शान्त नही रहूँगा तो लोग क्या कहेगे ? इस भव मे मेरी वदनामी होगी और पाप का वंध होगा तो अगला भव भी विगड जायगा। यदि शान्त रहूँगा तो अभी प्रशसा होगी और पुण्यवध होगा तो आगे भी सुख की प्राप्ति होगी।

इसीप्रकार का कोई न कोई यशादि का लोभ व अपयश आदि का भय अथवा पुण्य की रुचि और पाप की अरुचि ही उनकी शान्ति का आधार रहती है या फिर शास्त्रों में लिखा है कि मुनिराज को क्रोध नही करना चाहिए, शान्त रहना चाहिए – आदि किसी न किसी वाह्य आधार को पकड़ कर ही शान्त रहते है, उनकी शान्ति का आधार आत्मा नही वनता है।

तथा कोई ज्ञानी चारित्रमोह के दोष से वाहर में क्रोध करता भी दिखाई दे, फिर भी उत्तमक्षमा का धारक हो सकता है। जैसे— आचार्यमहाराज मुनिराज को डांटते भी दिखाई दे, उन्हे दण्ड भी दे रहे हो, उत्तेजित भी दिखाई दे रहे हो, फिर भी वे उत्तमक्षमा के धारक हैं– क्योकि उनके अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान क्रोध का अभाव है, आत्मा का आश्रय विद्यमान है। अणुव्रती या अविरतसम्यग्दृष्टि गृहस्थ तो और भी अधिक वाह्य मे क्रोध करता दिखाई दे सकता है। अव्रती परन्तु क्षायिकसम्यग्दृष्टि भरतचक्रवर्ती वाहुवली पर चक्र चलाते समय भी अनन्तानुवन्धी के क्रोधी नही थे।

अत: उत्तमक्षमा का निर्णय वाह्य प्रवृत्ति के आधार पर नही किया जा सकता।

अनन्तानुवधी क्रोध के अभाव से उत्तमक्षमा प्रकट होती है और अप्रत्याख्यान व प्रत्याख्यान क्रोध का अभाव उत्तमक्षमा को पल्लवित करता है तथा संज्वलन क्रोध का अभाव उत्तमक्षमा को पूर्णता प्रदान करता है।

अनन्त संसार का अनुवन्ध करने वाला अनन्तानुवधी क्रोध आत्मा के प्रति अरुचि का नाम है। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा की अरुचि ही अनन्तानुबंधी क्रोध है।

जब हमे किसी व्यक्ति के प्रति अनन्त क्रोध होता है तो हम उसकी शकल भी देखना पसद नही करते, उसकी वात करना-सुनना पसद नही करते। कोई तीसरा व्यक्ति उसकी चर्चा हमसे करे तो हमे वह भी वर्दाश्त नहीं होती, उसकी प्रशसा सुनना तो वहुत दूर की वात है।

इसीप्रकार जिन्हे आत्मदर्शन की रुचि नही है, जिन्हे आत्मा की वात करना-सुनना पसद नही है, जिन्हे आत्मचर्चा ही नही, आत्मचर्चा करने वाले भी नही सुहाते, वे सव अनन्तानुबंधी के क्रोधी हैं—क्योकि

उन्हें आत्मा के प्रति अनन्त क्रोध है, तभी तो उन्हें आत्मचर्चा नही सुहाती ।

हमने पर को तो अनन्त बार क्षमा किया, पर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई ! एक बार अपनी आत्मा को भी क्षमा करदे, उसकी ओर देख, उसकी भी सुध ले । अनादि से पर को परखने में ही अनन्त काल गमाया है । एक बार अपनी आत्मा को भी देख, जान, परख; सहज ही उत्तमक्षमा तेरे घट में प्रकट हो जावेगी ।

आत्मा का अनुभव ही उत्तमक्षमा की प्राप्ति का वास्तविक उपाय है । क्षमास्वभावी आत्मा का अनुभव करने पर, आश्रय करने पर ही पर्याय मे उत्तमक्षमा प्रकट होती है ।

आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानीजीव को उत्तमक्षमा प्रकट होती है, और आत्मानुभव की वृद्धि वालो को ही उत्तमक्षमा बढती है, तथा आत्मा में ही अनन्तकाल को समा जाने वालों मे उत्तमक्षमा पूर्णता को प्राप्त होती है ।

अविरतसम्यग्दृष्टि, अणुव्रती, महाव्रती और अरहन्त भगवान मे उत्तमक्षमा का परिमाणात्मक (Quantity) भेद है,गुणात्मक (Quality) भेद नहीं । उत्तमक्षमा दो प्रकार की नही होती, उसका कथन भले दो प्रकार किया जाय । उसको जीवन मे उतारने के स्तर तो दो से भी अधिक हो सकते है । निश्चयक्षमा और व्यवहारक्षमा कथन-शैली के भेद हैं, उत्तमक्षमा के नही । इसी प्रकार अविरतसम्यग्दृष्टि की क्षमा, अणुव्रती की क्षमा, महाव्रती की क्षमा, अरहन्त की क्षमा – ये सब क्षमा को जीवन मे उतारने के स्तर के भेद हैं, उत्तमक्षमा के नही, वह तो एक अभेद है ।

उत्तमक्षमा तो एक अकषायभावरूप है, वीतरागभावस्वरूप है, शुद्धभावरूप है । वह कषायरूप नही, रागभावस्वरूप नही, शुभाशुभ भावरूप नही, बल्कि इनके अभावरूप है ।

क्षमास्वभावी आत्मा के आश्रय से समस्त प्राणियो को उत्तम क्षमाधर्म प्रकट हो, और सभी अतीन्द्रिय ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का अनुभव कर पूर्ण सुखी हो, इसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ ।

उत्तममार्दव

क्षमा के समान मार्दव भी आत्मा का स्वभाव है। मार्दवस्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो मान के अभावरूप शान्ति-स्वरूप पर्याय प्रकट होती है, उसे भी मार्दव कहते हैं। यद्यपि आत्मा मार्दवस्वभावी है तथापि अनादि से आत्मा में मार्दव के अभावरूप मानकषायरूप पर्याय ही प्रकटरूप से विद्यमान है।

'मृदोर्भाव: मार्दवम्' मृदुता-कोमलता का नाम मार्दव है। मान कषाय के कारण आत्मस्वभाव में विद्यमान कोमलता का अभाव हो जाता है। उसमें एक अकड-सी उत्पन्न हो जाती है। मानकषाय के कारण मानी अपने को बडा और दूसरों को छोटा मानने लगता है। उसमें समुचित विनय का भी अभाव हो जाता है। मानी जीव हमेशा अपने को ऊँचा और दूसरों को नीचा करने का प्रयत्न किया करता है। मान के खातिर वह क्या नही करता? छल-कपट करता है, मान भंग होने पर क्रोधित हो उठता है। सम्मान प्राप्ति के लिए सब कुछ करने को तैयार रहता है। यहाँ तक कि जिन धनादि पदार्थों का सग्रह मौत की कीमत पर करता है, उन्हे भी पानी की तरह बहाने को तैयार हो जाता है। घर-बार, स्त्री-पुत्रादि सब कुछ छोड़ देने पर भी मान नही छूटता। अच्छे-अच्छे तथाकथित महात्माओ को आसन की ऊँचाई के लिए झगड़ते देखा जा सकता है, नमस्कार न करने पर उखड़ते देखा जा सकता है। यह सब मान कषाय की ही विचित्र महिमा है।

मानी जीव की प्रवत्ति का चित्रण महापडित टोडरमलजी ने इसप्रकार किया है :–

"जव इसके मानकषाय उत्पन्न होती है तव औरो को नीचा व अपने को ऊँचा दिखाने की इच्छा होती है और उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। अन्य की निंदा करता है, अपनी प्रशंसा करता है व अनेक प्रकार से औरों की महिमा मिटाता है, अपनी महिमा करता है। महाकष्ट से जो धनादिक का संग्रह किया उसे विवाहादि कार्यों मे खर्च करता है तथा कर्ज लेकर भी खर्चता है। मरने के वाद हमारा यश रहेगा ऐसा विचारकर अपना मरण करके भी अपनी महिमा वढ़ाता है। यदि कोई अपना सम्मानादिक न करे तो उसे भयादिक

दिखाकर दुख उत्पन्न करके अपना सम्मान कराता है। तथा मान होने पर कोई पूज्य-बड़े हों उनका भी सम्मान नही करता, कुछ विचार नही रहता। यदि अन्य नीचा और स्वय ऊँचा दिखाई न दे, तो अपने अन्तरग में आप बहुत सन्तापवान होता है और अपने अंगों का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है। — ऐसी अवस्था मान होने पर होती है।"[1]

कषायों में मान का दूसरा नम्बर है, क्रोध का पहिला। दश धर्मों में भी उत्तमक्षमा के बाद ही उत्तममार्दव आता है। इसका भी कारण है। यद्यपि क्रोध और मान दोनों द्वेषरूप होते हैं तथापि इनकी प्रकृति में भेद है। जब कोई हमें गाली देता है तो क्रोध आता है, पर जब प्रशसा करता है तो मान हो जाता है। दुनियाँ मे तो निंदा और प्रशंसा सुनने को मिलती ही रहती है। अज्ञानी दोनों स्थितियों मे कषाय करता है।

जिसप्रकार जिनका शारीरिक स्वास्थ्य कमजोर होता है, उन्हे ठंडी और गरम दोनों प्रकार की हवाएँ परेशान करती हैं, गरम हवा में उन्हे लू लग जाती है और ठंडी हवा से जुखाम हो जाता है; उसीप्रकार जिनका आत्मिक स्वास्थ्य कमजोर होता है, उन्हे निंदा और प्रशंसा दोनों ही परेशान करते हैं। निंदा की गरम हवा लगने से उन्हे क्रोध की लू लग जाती है और प्रशंसा की ठडी हवा लगने से मान का जुखाम हो जाता है।

निंदा शत्रु करते हैं और प्रशसा मित्र। अत: क्रोध के निमित्त बनते हैं शत्रु और मान के निमित्त बनते हैं मित्र।

विरोधियो की एक आदत होती है — विद्यमान गुणों की चर्चा तक न करना और अविद्यमान अवगुणों की बढ़ा-चढाकर चर्चा करना। अनुकूलो की भी एक आदत होती है, वे भी एक कमजोरी के शिकार होते हैं — वे विद्यमान अवगुणों की चर्चा तक नही करते, बल्कि अल्प गुणों को बड़ा-चढाकर बखान करते है, कभी-कभी अविद्यमान गुणों को भी कहने लगते हैं। कम्पाउंडर को डॉक्टर और मुंशी को वकील साहब कहना इसी वृत्ति का परिणाम है।

दोनों ही वृत्तियाँ खोटी हैं, क्योकि वे क्रमश. क्रोध और मान के अनुकूल हैं।

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५३

ऐसे लोग दुनियाँ मे भले ही कम मिले जो गुणों को अवगुण रूप में प्रस्तुत करें, पर ऐसे चापलूस पग-पग पर मिलेंगे जो छोटे से गुण को वढ़ा-चढाकर कहते हैं। लखपति को करोडपति कहना साधारण-सी वात है।

एक वात यह भी है कि निंदा करने वाले प्राय: पीठ-पीछे निंदा करते है, मुँह के सामने निंदा करने वाले वहुत कम मिलेंगे; पर प्रशसा अधिकतर मुँह पर ही की जाती है, पीठ-पीछे वहुत कम। वे लोग वड़े ही भाग्यशाली है जिनकी प्रशंसा लोग पीठ-पीछे भी करें।

अत: प्रशंसा निंदा से अधिक खतरनाक है।

प्रतिकूलता में क्रोध और अनुकूलता मे मान आता है। असफलता क्रोध और सफलता मान की जननी है। यही कारण है कि असफल व्यक्ति क्रोधी होता है और सफल मानी। जव कोई व्यक्ति किसी काम में असफल हो जाता हैं तो वह उन स्थितियो पर क्रोधित हो उठता है जिन्हें वह असफलता का कारण समझता है और सफल होने पर सफलता का श्रेय स्वयं लेकर अभिमान करने लगता हैं।

यद्यपि मान भी क्रोध के समान खतरनाक विकार है, पर लोग उसे न जाने क्यों कुछ प्यार करते है? मानपत्र सवके घरो मे टगे मिल जावेंगे, किसी के घर पर क्रोधपत्र नही मिलेगा। क्रोधपत्र कोई किसी को देता भी नही है, और कोई देगा भी तो कोई लेगा नही, घर मे लगाने की वात तो वहुत दूर है। पर लोग मानपत्र वड़ी शान से लेते हैं और उसे वड़े ही प्यार से घर मे लगाते है। वहुत लोग तो उसे ज्ञान-पत्र समझते हैं जवकि उस पर साफ-साफ लिखा रहता है मान-पत्र। इतने से भी सन्तोष नही होता है तो फिर उसे अखवारों मे पूरा का पूरा छपाते हैं, चाहे उसका विज्ञापन चार्ज ही क्यो न देना पड़े।

यदि कभी मानपत्र मिल जाता है तो उसे संभाल कर रखते हैं, पर अपमान तो अनेक वार मिला है पर..........। पुण्यहीनों का मान से अधिक अपमान ही होता है।

मान एक मीठा जहर है, जो मिलने पर अच्छा लगता है, पर है वहुत दुखदायक। दुखदायक क्या दुखरूप ही है, क्योंकि है तो आखिर कषाय ही।

यद्यपि मान भी क्रोध के समान ही आत्मा का अहित करने वाला विकार है तथापि वाह्य मे क्रोध के समान सर्व-विनाशक नही।

जिस पर हमे क्रोध आता है हम उसे नष्ट कर डालना चाहते हैं, पूर्णत: बरबाद कर देना चाहते है, पर जिसके लक्ष्य से मान होता है उसे नष्ट नही करना चाहते वरन् उसे कायम रखना चाहते हैं, पर अपने से कुछ छोटेरूप मे।

क्रोधी को विरोधी की सत्ता ही स्वीकृत नही होती, जबकि मानी को भीड चाहिए, नीचे बैठने वाले चाहिए, जिनसे वह कुछ ऊँचा दिखे। मानी को मान की पुष्टि के लिए एक सभा चाहिये जिसमे सब नीचे बैठे हों और वह सबसे कुछ ऊँचा। अत मानी दूसरो को भी रखना चाहता है पर अपने से कुछ नीचे, क्योकि मान की प्रकृति ऊँचा दिखने की है और ऊँचाई एक सापेक्ष स्थिति है। कोई नीचा हो तो ऊँचे का व्यवहार बनता है। ऊँचाई के लिए नीचाई और नीचाई के लिए ऊँचाई चाहिये।

क्रोधी क्रोध के निमित्त को हटाना चाहता है, पर मानी मान के निमित्तो को रखना चाहता है। क्रोधी कहता है—गोली से उडा दो, मार दो; पर मानी कहता है—नही; मारो मत, पर जरा दबाकर रखो।

जागीरदार लोग गाँव में किसी को पांव मे सोना नही पहिनने देते थे, उनके मकान से ऊँचा मकान नही बनाने देते थे, क्योकि उनके मकान से दूसरे का मकान बडा हो जाए तो उनका मान खण्डित हो जाता था।

क्रोधी वियोग चाहता है पर मानी सयोग। यदि मुझे सभा मे क्रोध आ जाय तो मैं उठकर भाग जाऊँगा और यदि वश चलेगा तो सबको भगा दूँगा। पर यदि मान आवे तो भागूँगा नही और सबको भगाऊँगा भी नही, पर नीचे बिठाऊँगा और मैं स्वयं ऊपर बैठना चाहूँगा। मान की प्रकृति भगाने की नही, दबाकर रखने की नीचे रखने की है, जबकि क्रोध की प्रकृति खत्म करने की है।

यही कारण है कि क्रोध नम्बर एक की कषाय है और मान नम्बर दो की।

मान के अनेक रूप होते है। कुछ रूप तो ऐसे होते हैं जिन्हे बहुत से लोग मान मानते ही नही। दीनता मान का एक ऐसा ही रूप है जिसे लोग मान नही मानना चाहते। दीन को मानी-अभिमानी मानने को उनका दिल स्वीकार नही करता। वे कहते है दीन तो दीन है, वह मानी कैसे हो सकता है?

यदि मार्दवधर्म के अभाव का नाम मानकषाय और मान कषाय के अभाव का नाम मार्दवधर्म है तो फिर दीनता को मान मानना ही होगा, क्योंकि यदि उसे मान न माना जायगा तो मान के अभाव मे दीनता मार्दव हो जावेगी।

क्यो ? कैसे ?

देखिये – मान आठ चीजों के आश्रय से होता है :–

ज्ञानं पूजां कुल जाति वलमृद्धि तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्व स्मयमाहुर्गतस्मयाः ।।[1]

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, वल, ऋद्धि, तप, और शरीर – इन आठ वस्तुओं के आश्रय से जो मान किया जाता है, उसे मानरहित भगवान मान कहते हैं।

तात्पर्य यह है कि क्रोध या मान कोई भी विकार हवा मे नही होता, किसी न किसी के आश्रय से होता है। आश्रय का अर्थ है लक्ष्य। अर्थात् जव हमे क्रोध आता है तो वह किसी न किसी पर, किसी न किसी के लक्ष्य से होता है। ऐसा नही कि क्रोध आने पर पूछा जाय कि किस पर आ रहा है तो कहे किसी पर नही, वैसे ही आ रहा है – ऐसा नही होता। क्रोध किसी न किसी पर ही आता है। उसीप्रकार मान भी किसी न किसी वस्तु के आश्रय से ही होता है। जिन वस्तुओ के आश्रय से मान होता है, उन्हे आठ भागों में वर्गीकृत किया गया है।

'मैं ज्ञानी हूँ' इस विकल्प के आश्रय से होने वाले मान को ज्ञानमद कहते हैं। इसीप्रकार कुल, जाति, धन, वल आदि के आश्रय से कुलमद, जातिमद, धनमद, वलमद आदि होते हैं।

अधिकांश लोगो की मान्यता ऐसी पाई जाती है कि धनमद धनवालो को ही होता है, गरीबों को नही। उनका कहना है कि गरीवो के पास धन है ही नही, तो उन्हे धनमद कैसे हो सकता है ? इसीप्रकार रूपमद रूपवालों को होगा, कुरूपो को नही। बलमद वलवानों को होगा, निर्बलो को नही। इसीप्रकार अन्य भी समझ लेना चाहिये।

उनकी यह वात ऊपर से कुछ जँचती भी है, पर गम्भीरता से विचार करने पर प्रतीत होता है कि यह बात युक्तिसगत नही है।

---

[1] आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्लोक २५

क्योंकि यदि धनमद धनवालों को ही होगा, बलमद बलवानों को ही होगा, रूपमद रूपवान को ही होगा तो फिर ज्ञानमद ज्ञानवान को ही होना चाहिए; जबकि ज्ञानमद ज्ञानी को नही, अज्ञानी को होता है। ज्ञानमद ही क्यों, आठों ही मद अज्ञानी को ही होते हैं, ज्ञानी को नही।

जब ज्ञानमद अज्ञानी को हो सकता है तो धनमद निर्धन को क्यों नही, रूपमद कुरूप को क्यो नही ? इसीप्रकार बलमद निर्बल को क्यो नही ? आदि।

दूसरी बात यह है कि मान लो एक व्यक्ति ऐसा है जिसके पास न तो धन है, न बल है; न ही वह रूपवान है, न ही ऐश्वर्यवान है, न ही ज्ञानी एवं तपस्वी ही है; उच्च जाति एव उच्च कुलवाला भी नही है तो उसके तो कोई मद होगा ही नही, उसे किसी भी प्रकार का मान होगा नही; उसे तो फिर मानकषाय के अभाव में मार्दव धर्म का धनी मानना होगा। शायद यह आपको भी स्वीकार न होगा ? क्योंकि इस स्थिति मे जो धर्म का नाम भी नही जानते ऐसे दीन-हीन, कुरूप, निर्बल, नीच जाति कुल वाले अज्ञानी जन के भी मार्दवधर्म की उपस्थिति माननी होगी, जो कि सम्भव नही है।

वस्तुत स्थिति यह है कि धन के संयोग से अपने को बडा माने वह मानी। मात्र धन के होने से कोई मानी नही हो जाता, पर उसके होने से अपने को बडा मानकर मान करने से मानी होता है। इसी प्रकार धन के न होने से या कम होने से अपने को छोटा माने वह दीन है, मात्र धन की कमी या अभाव से कोई दीन नही हो जाता – हो जावे तो मुनिराजों को दीन मानना होगा, क्योंकि उनके पास तो धन होता ही नही, वे रखते ही नहीं। वे तो मार्दवधर्म के धनी हैं, वे दीन कैसे हो सकते हैं ? धन के अभाव से अपने को छोटा अनुभव कर दीनता लावे तो दीन होता है।

धनादि के अभाव में भी धनादिमदों की उपस्थिति मानने मे हमें परेशानी इसलिए होती है कि हम धनादि के संयोग से मान की उत्पत्ति मान लेते हैं। हम मान का नाप पर से करते हैं। मानकषाय और मार्दवधर्म दोनो ही आत्मा की पर्यायें हैं, अतः उनका नाप अपने से ही होना चाहिए, पर से नही।

दूध लीटर से नापा जाता है और कपडा मीटर से। यदि कोई कहे दो लीटर कपड़ा दे देना या दो मीटर दूध देना तो दुनियाँ उसे मूर्ख ही समझेगी, क्योकि ऐसा बोलने वाला न तो लीटर को ही

समझता है और न मीटर को ही, या फिर वह दूध और कपडा दोनों से अपरिचित है अन्यथा लीटरों मे कपडा और मीटरों में दूध क्यो मांगता ?

आत्मा के धर्म मार्दवादि और अधर्म मानादि को भी परपदार्थो से क्यो नापना ? धनादि परपदार्थो के संयोग मात्र से मानकषाय एवं उनके अभाव से मार्दवधर्म को मानने वाले न तो मानकषाय को ही समझते हैं और न मार्दवधर्म को ही । भले ही वे मानकषाय करते हो, पर उसका सही स्वरूप नही समझते । ऐसा भी सम्भव है कि धनादि का संयोग हो, पर धनमद न हो । अज्ञानी को धनादि का सयोग न होने पर भी नियम से धनादिमद होते है, क्योंकि जब तक सम्यग्दर्शन नही हुआ, आत्मा का अनुभव नही हुआ, तब तक धनादिमदो की उपस्थिति अनिवार्य है, भले ही वह बाह्य में अभिमान करता दिखाई न भी दे ।

मान और दीनता दोनो ही मार्दवधर्म के विरोधी भाव हैं । अत दोनो ही मद (मान) के ही रूप हैं । जब मार्दव के अभाव को मान या मान के अभाव को मार्दव कहा जाता है – कम से कम तब निश्चितरूप से 'मान' शब्द मे दीनता को भी शामिल मानना होगा, अन्यथा मार्दवधर्म वालो के दीनता का अभाव मानना सभव न होगा ।

'ज्ञानी के ज्ञानमद नही होता और अज्ञानी के होता है ।' इससे भी एक बात प्रकट होती है कि मान जिसका होता है उसकी सत्ता हो ही, यह आवश्यक नही । अतः धनमद होने के लिए धन की उपस्थिति आवश्यक नही ।

धनादि का व्यवहार तो मात्र मनुष्यगति मे ही पाया जाता है और मान चारों ही गतियो मे पाया जाता है । कुल-जाति का व्यवहार भी मनुष्य-व्यवहार है । मान को मात्र मनुष्य-व्यवहार तक सीमित रख कर नही, विस्तृत सीमा मे समझना होगा ।

इसमें मूल बात ध्यान देने की यह है कि अज्ञानी ने अपना नाप अपने से नही किया वरन् धनादि के सयोग से किया । धन के संयोग से अपने को बडा माना और उसकी कमी या अभाव से अपने को छोटा माना । पर के कारण चाहे अपने को छोटा माने या बड़ा – दोनो ही मान हैं । इस कारण मानी तो मानी है ही, दीन भी मानी ही है ।

लौकिक दृष्टि से भले ही उसमें भेद हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से विशेषकर मार्दवधर्म के सन्दर्भ में अभिमान और दीनता दोनो मान के ही रूप है, उनमे कोई विशेष भेद नही। मार्दवधर्म दोनों के ही अभाव मे उत्पन्न होने वाली स्थिति है।

अभिमान और दीनता दोनो में अकड है; मार्दवधर्म की कोमलता, सहजता दोनो में ही नही है। मानी पीछे को झुकता है, दीन आगे को; सीधे दोनो ही नही रहते। मानी ऐसे चलता है जैसे वह चौडा हो और बाजार सकडा एव दीन ऐसे चलता है जैसे वह भारी बोझ से दबा जा रहा हो।

अतः यह एक निश्चित तथ्य है कि अभिमान और दीनता दोनो ही विकार हैं, आत्म-शान्ति को भंग करने वाले हैं और दोनो के अभाव का नाम ही मार्दवधर्म है।

समानता आने पर मान जाता है। मार्दवधर्म मे समानता का तत्त्व विद्यमान है। 'सभी आत्माएँ समान है, कोई छोटा-बडा नही।' यह मान्यता सहज ही मानकषाय को कम करती है, क्योकि बडप्पन के भाव का नाम ही तो मान है। 'मैं बडा और जगत छोटा' – यह भाव मानस्वरूप है। तथा 'मैं छोटा और जगत बड़ा' – यह भाव दीनतारूप है; यह भी मान का ही रूपान्तर है – जैसाकि पहले स्पष्ट किया जा चुका है।

आर्हतमत मे 'मेरा स्वरूप सिद्ध समान है' कहकर भगवान को भी समानता के सिद्धान्त के भीतर ले लिया गया है। 'मैं किसी से बडा नही' मानने वाले को मान एवं 'मैं किसी से छोटा नही' मानने वाले को दीनता आना सम्भव नही।

छोटे-बड़े का भाव मान है और समानता का भाव मार्दव। सब समान हैं, फिर मान कैसा? पर हमने 'स' छोड़कर 'मान' रख लिया है। यदि मान हटाना है तो सबमे विद्यमान समानता को जानिए, मानिए, मान स्वय भाग जाएगा और सहज ही मार्दवधर्म प्रकट होगा।

जैसा हो वैसा अपने को मानने का नाम मान नही है, क्योकि उसका नाम तो सत्यश्रद्धान, सत्यज्ञान है। वल्कि जैसा है नही वैसा माननेसे, तथा जैसा है नही वैसा मानकर अभिमान या दीनता करने से मान होता है, मार्दवधर्म खण्डित होता है। यदि मात्र अपने को

ज्ञानी मानने से मान होता हो, तो फिर ज्ञानी को भी ज्ञानमद मानना होगा क्योंकि वह भी तो अपने को ज्ञानी मानता है। केवलज्ञानी भी अपने को केवलज्ञानी मानते – जानते हैं, तो क्या वे भी मानी हैं ?

नही, कदापि नही। ज्ञानमद केवलज्ञानी को नही होता, क्षयोपक्षम ज्ञान वालो को होता है। क्षयोपशम ज्ञान वालों में भी ज्ञानमद सम्यग्ज्ञानी को नही, मिथ्याज्ञानी को होता है। मिथ्याज्ञानी को अज्ञानी भी कहा जाता है।

संयोग को संयोगरूप जानने से भी मान नही होता, क्योकि सम्यग्ज्ञानी-चक्रवर्ती अपने को चक्रवर्ती जानता ही है, मानता भी है; किन्तु साथ में यह भी जानता है कि यह सब संयोग है, मैं तो इनसे भिन्न निराला तत्त्व हूँ। यही कारण है कि उसके अनन्तानुबन्धी का मान नही होता। यद्यपि कमजोरी के कारण अप्रत्याख्यानादि का मान रहता है तथापि मान के साथ एकत्ववुद्धि का अभाव है, अत उसके आशिकरूप से मार्दवधर्म विद्यमान है।

अनन्तानुबन्धी मान का मूल कारण शरीरादि परपदार्थ एव अपनी विकारी और अल्पविकसित अवस्थाओ मे एकत्ववुद्धि है। मुख्यत: हम इसे शरीर के साथ एकत्ववुद्धि के आधार पर समझ सकते है – क्योकि रूपमद, कुलमद, जातिमद, वलादिमद शरीर से ही सम्वन्ध रखते है। रूपमद शरीर की कुरूपता और सुरूपता के आश्रय से ही होता है। इसीप्रकार बलमद भी शरीर के वल से सम्वन्धित है तथा जाति और कुल का निर्णय भी जन्म से सम्वन्ध रखने के कारण शरीर से ही जुड जाता है।

जो व्यक्ति शरीर को ही अपने से भिन्न पदार्थ मानता है, जानता है, उसमे अपनत्व भी नही रखता; वह शरीर के सुन्दर होने से अपने को सुन्दर कैसे मान सकता है ? इसीप्रकार उसके कुरूप होने से भी अपने को कुरूप कैसे मानेगा ?

दूसरी वात यह भी तो है कि ज्ञानी इनकी क्षणभगुरता से भली-भाँति परिचित होता है। अत इनके आश्रय से उसे मान कैसे हो सकता है ? शरीरादि सयोग पल-पल मे विकृत और विनष्ट होने वाले हैं। क्या पता अभी सुन्दर दिखने वाला शरीर कब असुन्दर हो जावे। ऐश्वर्य का भी क्या भरोसा ? प्रात के श्रीमत को सायं होने के पहले श्रीविहीन होते देखा जा सकता है। अपनी भुजाओं से

मोटर रोक देने वाले गामा पहलवान के बाजुओं मे मरते समय मक्खी उडाने की भी शक्ति न रही थी। क्या कोई दावे के साथ कह सकता है कि जो शक्ति, जो सौंदर्य और जो सम्पत्ति आज उसके पास है वह कल भी रहेगी ? काया और माया को बिखरते क्या देर लगती है ? ऐसी स्थिति मे मान क्या किया जाय और किस पर किया जाय ?

इसीप्रकार जाति, कुलादि पर भी घटित कर लेना चाहिये।

ऐश्वर्यमद बाह्य पदार्थों से सम्बन्ध रखता है तथा ज्ञानमद आत्मा की अल्पविकसित अवस्था के आश्रय से होने वाला मद है। जिसे अपनी पूर्णविकसित पर्याय केवलज्ञान का पता है, उसे क्षयोपशमरूप अल्पज्ञान का अभिमान कैसे हो सकता है ? कहाँ भगवान का अनन्तज्ञान और कहाँ अपना उसका अनन्तवाँ भाग ज्ञान, क्या करना उसका अभिमान ? और क्षयोपशम ज्ञान क्षणभंगुर भी तो है। अच्छा-भला पढ़ा-लिखा आदमी क्षण भर मे पागल भी तो हो सकता है ?

धन-जन-तन आदि संयोगो के आधार पर किया गया मान अन्तत खण्डित होना ही है, क्योकि संयोग का वियोग निश्चित है, अतः सयोग का मान करने वाले का मान खण्डित होना भी निश्चित है।

मार्दवधर्म की प्राप्ति के लिए देहादि मे से एकत्वबुद्धि तोड़नी होगी। देहादि मे एकत्वबुद्धि मिथ्यात्व के कारण होती है, अतः सर्वप्रथम मिथ्यात्व का ही अभाव करना होगा, तभी उत्तमक्षमा-मार्दवादि धर्म प्रकट होगे, अन्य कोई मार्ग नही है। मिथ्यात्व का अभाव आत्मदर्शन से होता है, अत आत्मदर्शन ही एक मात्र कर्त्तव्य है, उत्तमक्षमामार्दवादि धर्म अर्थात् सुख-शान्ति प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है।

देहादि मे परबुद्धि के साथ-साथ आत्मा में उत्पन्न होने वाली क्रोधमानादि कषायो मे हेयबुद्धि भी होनी चाहिये। उनमे हेयबुद्धि हुए बिना उनका अभाव होना सम्भव नही है। यद्यपि अज्ञानी भी कहता तो यही है – मान खोटी चीज़ है इसे छोड़ना चाहिए तथापि उसके अन्तर मे मानादि के प्रति उपादेयबुद्धि बनी रहती है। हेय तो शास्त्रो मे लिखा है इसलिये कहता है। मन से तो वह मान-सम्मान चाहता ही है, अतः मान रखने के अनेक रास्ते निकालता है। कहता

है – मान नहीं, पर आदमी में स्वाभिमान तो होना ही चाहिये। स्वाभिमान किसे कहते है, इसकी तो उसे कुछ खबर ही नही है; मान के ही किसी अंश को स्वाभिमान मान लेता है।

मान लीजिये आपने मुझे प्रवचन के लिए बुलाया, पर जो स्टेज बनाया तथा प्रवचन सुनने के लिए जितनी जनता जुड़ी, वह स्टेज व उतनी जनता मुझे अपनी विद्वत्ता की तुलना मे अपर्याप्त लगे तथा मैं कहने लगूँ कि इतनी-सी स्टेज, इस पर एक चौकी और लगाओ। इतने बडे विद्वान् के लिए इतनी नीची स्टेज वनाते शर्म नही आई और जनता भी इतनी-सी।

आप कहेगे पंडितजी मानी हैं और मैं कहूँगा कि यह मान नही, स्वाभिमान है। विद्वान् को मानी नही पर स्वाभिमानी तो होना ही चाहिये, उसकी इज्जत तो होनी ही चाहिए।

समझ मे नही आता कि इसमें बेइज्जती की किसने? क्या कम जनता एवं नीचे स्टेज से किसी की बेइज्जती हो जाती है? अन्ततोगत्वा मान और स्वाभिमान के बीच विभाजन रेखा तो खीचनी ही होगी – कि कहाँ तक वह स्वाभिमान कहलाएगा और कहाँ से मान। आखिर मे होता यही है कि लोग उसे मानी कहते रहते हैं और मान करने वाला उसी को स्वाभिमान नाम देता रहता है।

और भी अनेक प्रसंगो पर इस प्रकार के दृश्य देखे जा सकते है।

स्वाभिमान शब्द स्व+अभिमान से वना है। स्व शब्द निज का वाची है, उसमें स्टेज और जनता कहाँ से आ जाते हैं। वस्तुत. तो अपनी आत्मा की पूर्ण शक्तियो को पहिचान कर उनके आश्रय से जगत के सामने दीन न होना भी स्वाभिमान है। स्वाभिमान का सही स्वरूप न पहिचान कर स्वाभिमान के नाम पर अज्ञानी मान ही करता रहता है।

सम्मान के नाम से ही मान लिया-दिया जाता है। कहते है कि यह सत् मान है। हम तो समझते हैं कि मान तो असत् ही होता है, पर लोगों ने उसके भी दो भेद कर डाले है – सत्+मान=सम्मान और असत्+मान=असम्मान। यदि मान भी सत् होगा तो फिर असत् का क्या होगा?

लोग कहते हैं कि सम्मान तो दूसरो ने दिया है, उससे हम मानी कैसे हो गये? पर भाई साहव! लिया तो आपने है। आचार्यों ने

चारो गतियो में चार कषायो की मुख्यता वताते हुए मनुष्य गति मे मान की मुख्यता वताई है। आदमी सब कुछ छोड़ सकता है – घर-वार, स्त्री-पुत्रादि; यहाँ तक कि तन के वस्त्र भी, पर मान छोड़ना वहुत कठिन है। आप कहेगे कैसी बात करते हो ? पद की मर्यादा तो रखनी ही पडती है। पर भाई ! समस्त पदों के त्याग का नाम साधु पद है, यह बात क्यों भूल जाते हो ?

रावरण मान के कारण ही नरक गया। यद्यपि वह सीताजी को हर कर ले गया था तथापि उसने उन्हे हाथ नही लगाया। अन्त में तो उसने सीताजी को ससम्मान राम को वापस करने का भी निश्चय कर लिया था, किन्तु उसने सोचा कि विना राम से लडे और विना जीते देने पर मान भंग हो जाएगा। दुनियाँ कहेगी कि डर कर सीता वापस कर दी है। अत. उसने सकल्प किया कि पहिले राम को जीतूँगा, फिर सीता को ससम्मान वापस कर दूँगा।

देखो ! सीता वापस देना स्वीकार, पर जीतकर; हारकर नही। सवाल सीता का नही, मूँछ का था, मान का था। मूँछ के सवाल के कारण सैंकडों घर वर्वाद होते सहज ही देखे जा सकते हैं। मनुष्यगति में अधिकतर झगडे मान के खातिर ही होते है। न्यायालयो के आस-पास मूँछो पर ताव देते लोग सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उठ सकता है कि आप कैसी बातें करते हैं ? मान-सम्मान की चाह तो ज्ञानी के भी हो सकती है, होती भी है। देखने पर पुराणों मे भी ऐसे अनेक उदाहरण मिल जावेगे।

हाँ ! हाँ !! क्यो नही, अवश्य मिल जावेंगे। पर मान की चाह अलग वात है और मानादि कषायो मे उपादेयबुद्धि अलग बात है। मानादि कपायो मे उपादेयवुद्धि मिथ्यात्व भाव है, उसके रहते तो उत्तममार्दवादि धर्म प्रकट ही नही हो सकते; मान की चाह और मान कपाय की उपस्थिति मे आंशिकरूप से मार्दवादि धर्म प्रकट हो सकते है, क्योकि मान की चाह और मानकषाय की आंशिक उपस्थिति चारित्र-मोह का दोष है, वह क्रमश ही जायगा, एक साथ नही।

सम्यग्दृष्टि के यद्यपि अनन्तानुवधी मान चला गया है तथापि अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन मान तो विद्यमान है, उनका प्रकट रूप तो ज्ञानी के भी दिखाई देगा ही। इसी प्रकार अणुव्रती के प्रत्याख्यान और सज्वलन सम्वन्धी तथा महाव्रती

मुनिराजों के भी संज्वलन सम्बन्धी मानादि की उपस्थिति रहेगी ही। मानादि कषाय छूटेंगी तो भूमिकानुसार ही; पर उनमें उपादेयबुद्धि, उन्हें अच्छा मानना तो छूटना ही चाहिए; इसके बिना तो धर्म का आरम्भ भी नही हो सकता।

आश्चर्य की बात तो यह है कि हम उन्हे उपयोगी और उपादेय मानने लगे हैं। कहते हैं कि गृहस्थी में थोड़ा क्रोध, मान आदि तो होना ही चाहिए, अन्यथा काम ही न चलेगा। यदि थोडा-बहुत भी क्रोध नही रहा तो फिर बच्चे भी कहना न मानेंगे। सारा अनुशासन-प्रशासन समाप्त हो जायगा। थोडा स्वभाव तेज हो तो सब काम ठीक होता है, समय पर होता है। इसीप्रकार यदि हम बिलकुल भी मान न रखेंगे तो फिर कोई भटे के भाव भी नही पूछेगा। आन-बान-शान के लिए भी थोडा-सा मान जरूरी है।

अज्ञानी समझता है—अनुशासन-प्रशासन और मान-सम्मान क्रोध-मान के द्वारा होते हैं, जबकि इनका क्रोध-मान के साथ दूर का भी सम्बन्ध नही है।

एक बाबाजी थे। उन्हें खाँसी उठा करती थी। उनसे कहा गया कि खाँसी का इलाज करा लीजिए, क्योंकि कहावत है कि 'लडाई की जड हाँसी और रोग की जड खाँसी'। वे कहने लगे—भाई ! भरे-पूरे घर मे इतनी खाँसी तो चाहिए। क्यो ? ऐसा पूछने पर कहने लगे—तुम समझते तो हो नही। बहू-बेटियों वाला बडा घर है। घर मे खाँसते-खखारते जाओ तो सब सावधान हो जाते हैं, इसमे उनकी और हमारी दोनो की इज्जत बनी रहती है।

जब उनसे कहा गया कि खाँसी का तो इलाज करवा लीजिए, बहू-बेटियों के लिए नकली खाँस लिया करना। तब तुनक कर बोले—नकली क्यों खाँसू जब असली ही है तो, हम नकली काम नही करते, नकली वे करें जिनके असली न हो।

आवश्यकतावश खाँसना-खखारना अलग बात है और खाँसी को ही उपयोगी और उपादेय मानना अलग बात। जिसने खाँसी को ही उपयोगी और उपादेय मान लिया है, उसे कालान्तर मे निश्चितरूप से तपेदिक होने वाला है। इसीप्रकार मानादि की चाह या मानादि का आंशिकरूप से होना अलग बात है और उन्हे उपयोगी और उपादेय मानना अलग बात। उपादेय मानने वाले को धर्म प्रकट होना भी सम्भव नही है।

मानादि कषायें भूमिकानुसार क्रमशः छूटती हैं, पर उनमें उपादेयबुद्धि एक साथ ही छूट जाती है। इनमें उपादेयबुद्धि छूटे बिना धर्म का आरम्भ ही नही होता।

तो क्या अन्त मे यही निष्कर्ष रहा कि क्रोध-मानादि कषाये नही करना चाहिए, इन्हे छोड़ देना चाहिये ?

नही, कहा था न कि क्रोध-मान छोडे नही जाते हैं, छूट जाते है। बहुत से लोग मुझसे कहते है कि आप बीमार बहुत पड़ते है, जरा कम पड़ा कीजिए न। मैं पूछता हूँ कि क्या मैं बीमार सोच-समझकर पड़ता हूँ – जो कम पड़ा करूँ, अधिक नही। अरे भाई! मेरा बस चले तो मैं बीमार पड़ूँ ही नही।

इसीप्रकार क्या कोई क्रोध-मानादि कषाये सोच-समझकर करता है। अरे! उसका वश चले तो वह कषाय करे ही नही, क्योकि प्रत्येक समझदार प्राणी कषायो को बुरा समझता है और यह भी चाहता है कि मैं कषाय करूँ ही नही, पर उसके चाहने से होता क्या है ? क्रोध-मानादि कषायें हो ही जाती है, हो क्या जाती है, सदा बनी ही रहती हैं, कभी कम, कभी अधिक, कभी मंद, कभी तीव्र। अनादिकाल से एक भी अज्ञानी आत्मा आज तक कषाय किए बिना एक समय भी नही रहा। यदि एक बार भी, एक समय को भी कषाय भाव का पूर्णतः अभाव हो जावे तो फिर कषाय हो ही नही सकती।

अब यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर मान क्यो उत्पन्न होता है और मिटे कैसे ? इसकी उत्पत्ति का मूल कारण क्या है और इसका अभाव कैसे किया जाय ?

जब तक यह आत्मा परपदार्थों को अपना मानता रहेगा तब तक अनन्तानुबन्धी मान की उत्पत्ति होती ही रहेगी। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि परपदार्थ की उपस्थितिमात्र मान का कारण नही है। तिजोरी मे लाखो रुपया पडा रहता है, पर तिजोरी को मान नही होता, उन्हे संभालने वाले मुनीम को भी मान नही होता, पर उससे दूर बैठे सेठ को होता है, क्योकि सेठ उन्हें अपना मानता है।

सेठ अपने को कपड़ा-मिल का मालिक समझता है। कपडा-मिल छूटने से मान नही छूटेगा; क्योकि राष्ट्रीयकरण हो जाने पर मिल तो छूट जायगा, पर सेठ को मान की जगह दीनता हो जावेगी।

अभी तक अपने को मिल का मालिक समझकर मान करता था, अब उसके अभाव में अपने को दीन अनुभव करेगा।

मिल छूटने से नही, पर छोडने से तो मान छूट जायगा ?

तब भी नही, क्योंकि छोड़ने से छोडने का मान हो जायगा, मान छोडने के लिए उसे अपना मानना छोडना होगा। मान का आधार 'पर' नही, पर को अपना मानना है।

जो पर को अपना माने उसे मुख्यतः मान होता है। अत मान छोडने के लिए पर को अपना मानना छोडना होगा। पर को अपना मानना छोड़ने का अर्थ यह है कि निज को निज और पर को पर जानना होगा, दोनो को भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र सत्तायुक्त पदार्थ मानना ही पर को अपना मानना छोडना है, ममत्वबुद्धि छोडना है।

पर मे ममत्वबुद्धि छोडनी है और रागादि भावो मे उपादेयबुद्धि छोडनी है। इनके छूट जाने पर मुख्यत मान उत्पन्न ही न होगा, विशेषकर अनन्तानुबधी मान तो उत्पन्न ही न होगा। चारित्र-दोष और कमजोरी के कारण अप्रत्याख्यानादि मान कुछ काल तक रहेगे, पर वे भी इसी ज्ञान-श्रद्धान के बल पर होने वाली आत्मलीनता से क्रमश क्षीण होते जावेगे और एक दिन ऐसा आयेगा कि मार्दव-स्वभावी आत्मा पर्याय मे भी पूर्ण मार्दवधर्म से युक्त हो जायगा, मानादि का लेश भी न रहेगा।

वह दिन सबको शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त हो, इस पवित्र भावना के साथ मार्दवधर्म की चर्चा से विराम लेता हूँ।



उत्तमआर्जव

क्षमा और मार्दव के समान ही आर्जव भी आत्मा का स्वभाव है। आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा मे छल-कपट मायाचार के अभावरूप शान्ति-स्वरूप जो पर्याय प्रकट होती है, उसे भी आर्जव कहते है। यद्यपि आत्मा आर्जवस्वभावी है तथापि अनादि से ही आत्मा मे आर्जव के अभावरूप मायाकषायरूप पर्याय ही प्रकट रूप से विद्यमान है।

'ऋजोर्भाव. आर्जवम्' ऋजुता अर्थात् सरलता का नाम आर्जव है। आर्जव के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली सरलता ही उत्तमआर्जव धर्म है। उत्तमआर्जव अर्थात् सम्यग्दर्शनसहित वीतरागी सरलता।

आर्जवधर्म की विरोधी मायाकषाय है। मायाकषाय के कारण आत्मा मे स्वभावगत सरलता न रहकर कुटिलता उत्पन्न हो जाती है। मायाचारी का व्यवहार सहज एव सरल नही होता। वह सोचता कुछ है, बोलता कुछ है, और करता कुछ है। उसके मन-वचन-काय मे एकरूपता नही रहती। वह अपने कार्य की सिद्धि छल-कपट के द्वारा ही करना चाहता है।

मायाचारी की प्रवत्ति का चित्रण पडित टोडरमलजी ने इस प्रकार किया है :—

"जब इसके माया कषाय उत्पन्न होती है तब छल द्वारा कार्य सिद्ध करने की इच्छा होती है। उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है, नाना प्रकार कपट के वचन कहता है, शरीर की कपटरूप अवस्था करता है, बाह्यवस्तुओ को अन्यथा बतलाता है, तथा जिनमें अपना मरण जाने ऐसे भी छल करता है। कपट प्रकट होने पर स्वय का बहुत बुरा हो, मरणादिक हो उनको भी नही गिनता। तथा माया होने पर किसी पूज्य व इष्ट का भी सम्बन्ध बने तो उनसे भी छल करता है, कुछ विचार नही रहता। यदि छल द्वारा कार्य सिद्धि न हो तो स्वय बहुत सतापवान होता है, अपने अगो का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है—ऐसी अवस्था माया होने पर होती है।"[1]

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३

मायाचारी व्यक्ति अपने सव कार्य मायाचार से ही सिद्ध करना चाहता है। वह यह नही समझता कि काठ की हाडी दो वार नही चढती। एक वार मायाचार प्रकट हो जाने पर जीवनभर को विश्वास उठ जाता है। धोखा-धड़ी से कभी-कभी और किसी-किसी को ही ठगा जा सकता है, सदा नही और सवको भी नही।

यहाँ ध्यान देने योग्य वात यह है कि लौकिक कार्यो की सिद्धि मायाचार से नही, पूर्व पुण्योदय से होती है और पारलौकिक कार्य की सिद्धि में पाँचों समवायो के साथ पुरुषार्थ प्रधान है।

कार्यसिद्धि के लिए कपट का प्रयोग कमजोर व्यक्ति करता है। सवल व्यक्ति को अपनी कार्यसिद्धि के लिए कपट की आवश्यकता ही नही पड़ती। उसकी प्रवृत्ति तो अपने जोर के जरिये कार्य सिद्ध करने की रहती है।

यह भी वात नही कि मायाचार की प्रवृत्ति मात्र किसी को ठगने के लिए ही की जाती हो, कुछ लोग मनोरंजन के लिए या आदतवश भी ऐसा करते हैं। उन लोगो को यहाँ की वहाँ भिडाने मे कुछ आनन्द-सा आता है। ऐसे लोग अपने छोटे से छोटे मनोरजन के लिए दूसरों को वड़े से वड़े संकट मे डालने से नही चूकते।

आजकल सभ्यता के नाम पर भी वहुत-सा मायाचार चलता है। विना लाग-लपेट के कही गई सच्ची वात तो लोग सुनना भी पसन्द नही करते। यह भी एक कारण है कि लोग अपने भाव सीधे रूप मे प्रकट न कर एडे-टेड़े रूप मे व्यक्त करते हैं। सभ्यता के विकास ने आदमी को वहुत-कुछ मिठवोला वना दिया है। आज के आदमी के लिए ऊपर से चिकनी-चुपडी वाते करना और अन्दर से काट करना एक साधारण-सी वात हो गई है।

वह यह नही समझता कि यह मायाचारी दूसरो के लिए ही नही, स्वय के लिए भी वहुत खतरनाक सावित हो सकती है, उसके सुख-चैन को भग कर सकती है। भग क्या कर सकती है, किए रहती है।

मायाचारी सदा सशक वना रहता है, क्योंकि उसने जो दुरगी नीति चलाई है, उसके प्रकट हो जाने का भय उसे सदा वना रहता है। छल कभी न कभी प्रकट होता ही है, उसकी गप्तता वनाए रखना अपने आप में असंभव नही, तो कठिन काम अवश्य है। वह सदा उसी में उलझा रहता है।

वह हमेशा भयाक्रान्त भी बना रहता है। उसे यह भय सदा बना रहता है कि कपट खुल जाने पर उसकी बहुत बुरी हालत होगी, वह महान कष्ट मे पड़ जायेगा। बलवानो के साथ किया गया कपट-व्यवहार खुलने पर बहुत खतरनाक साबित होता है। खतरा तो कपट खुलने पर होता है, पर खतरे की आशका से कपटी सदा ही भयाक्रान्त रहता है।

सशंकित और भयाक्रान्त व्यक्ति कभी भी निराकुल नही हो सकता। उसका चित्त निरन्तर आकुल-व्याकुल और अशात रहता है। अशात-चित्त व्यक्ति कोई भी कार्य सही रूप मे एव सफलतापूर्वक नही कर सकता है, फिर धर्म की साधना और आत्मा की आराधना तो बहुत दूर की बातें है।

मायाचारी व्यक्ति का कोई विश्वास नही करता। यहाँ तक कि माता-पिता, भाई-वहिन, पत्नी-पुत्र का भी उस पर से विश्वास उठ जाता है।

यही कारण है कि मायाकषाय का वर्णन करते हुए श्री शुभचन्द्राचार्य ने 'ज्ञानार्णव' के उन्नीसवे सर्ग मे लिखा है :—

जन्मभूमिरविद्यानामकीर्तेर्वासमन्दिरम् ।
पापपङ्कमहागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः ।।५८।।

अर्गलेवापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः ।
शीलशालवने वह्निर्मायेयमवगम्यताम् ।।५९।।

बुद्धिमान लोग कहते हैं कि माया को इस प्रकार जानो कि वह अविद्या की जन्मभूमि, अपयश का घर, पापरूपी कीचड का बडा भारी गड्ढा, मुक्ति-द्वार की अर्गला, नरकरूपी घर का द्वार और शीलरूपी शालवक्ष के वन को जलाने के लिए अग्नि है।

मायाकषाय के अभाव का नाम ही आर्जवधर्म है।

आर्जवधर्म और मायाकषाय की चर्चा जब भी चलती है तब उसे मन-वचन-काय के माध्यम से ही समझा-समझाया जाता है। कहा जाता है कि मन-वचन और काया की एकरूपता ही आर्जवधर्म है और इनकी विरूपता ही आर्जवधर्म की विरोधी मायाकषाय है। यह उपदेश भी दिया जाता है कि जैसा मन मे हो वैसा ही वाणी से कहना चाहिये, तथा जैसा बोला हो वैसा ही करना चाहिये। इसे ही आर्जवधर्म बताया जाता है। तथा मन में और, वचन मे और,

करे कुछ और, यह माया है – ऐसा कहा जाता है। मन-वचन-काय की इस विरूपता को ही वक्रता, कुटिलता आदि नामो से भी अभिहित किया जाता है।

किन्तु यह सब स्थूल कथन है। सूक्ष्मता से विचार करने पर इस सन्दर्भ मे कई प्रश्न खड़े हो जाते हैं।

आर्जवधर्म और मायाकपाय की उक्त परिभापाएँ स्वीकार करने पर आर्जवधर्म और मायाकपाय की उपस्थिति मन-वचन-काय वालो के ही मानना होगी, क्योकि मन-वचन-काय की एकरूपता या विरूपता मन-वचन-काय वालो के ही सम्भव है, जिनके मन-वचन-काय ही नही, उनके नही। मन-वचन-काय के अभाव मे उनमे एकरूपता या विरूपता का प्रश्न ही नही उठता।

सिद्धों के मन-वचन-काय का अभाव है, अत उक्त परिभाषा के अनुसार उनके आर्जवधर्म सम्भव नही है, जबकि उनके आर्जवधर्म होता है। उनमे आर्जवधर्म की सत्ता शास्त्रसमत तो है ही, युक्तिसंगत भी है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदि आत्मा के धर्म है एव वे आत्मा की स्वभाव-पर्यायें भी हैं, उनका – सम्पूर्णधर्मों एव सम्पूर्ण स्वभाव-पर्यायों से युक्त सिद्ध जीवो मे पाया जाना अवश्यम्भावी है, क्योकि सम्पूर्ण शुद्धता का नाम ही सिद्धपर्याय है।

इसीप्रकार जिनके मन और वाणी नही है ऐसे एकेन्द्रियादि जीवो के मायाकषाय मानना सम्भव न होगा, क्योकि जिनके अकेली काया है, मन और वचन है ही नही, उनके मन-वचन-काय की विरूपता अर्थात् मन मे और, वचन मे और, करे कुछ और वाली बात कैसे घटित होगी ?

एक दुकान पर तीन विक्रेता है – पृथक्-पृथक् उन सबसे किसी कपडे का भाव पूछने पर एक ने आठ रुपये मीटर, दूसरे ने दस रुपये मीटर एव तीसरे ने बारह रुपये मीटर बताया, जबकि वह है आठ रु० मीटर का ही। उक्त स्थिति मे तीनों की बातो में विरूपता होने से वे अप्रामाणिक कहे जावेगे। आप कहेगे – क्या लूट मचा रखी है, जितने आदमी उतने भाव। पर यदि एक ही विक्रेता हो और वह आठ रुपये मीटर के कपडे को बारह रुपये मीटर बतावे तो क्या वह प्रामाणिक हो जावेगा ? नही, कदापि नही। परन्तु एक ही विक्रेता होने से विरूपता दिखाई नहीं देगी। एक मे विरूपता कैसी ? विरूपता तो अनेक मे ही सम्भव है। इसी प्रकार एकेन्द्रियादि जीवों मे

वाणी और काया का अभाव होने से विरूपता तो सम्भव नही है, तो फिर उनके – मन-वचन-काय की विरूपता है परिभाषा जिसकी ऐसी – मायाकषाय की उपस्थिति कैसे मानी जावेगी ? मायाकषाय के अभाव मे उनके आर्जवधर्म मानना होगा जो कि असम्भव है, क्योकि शास्त्रो मे ऐसा स्पष्ट उल्लेख है कि एकेन्द्रिय के ही क्या, एकेन्द्रिय से असैनी पचेन्द्रिय तक सभी जीवो के चारो कषाये होती है, भले ही उनका प्रकटरूप दिखाई न दे ।

दूसरे मन-वचन-काय की एकरूपता उल्टी भी तो हो सकती है । जैसे तीनो ही विक्रेता आठ रुपये मीटर के कपडे का भाव वीस रुपया मीटर वतावे, तो क्या वे सही हो जावेगे ? नही, कदापि नही, जबकि उन तीनो के वोलने में एकरूपता दिखाई देगी, क्योकि वुद्धिपूर्वक पूर्वनियोजित वेईमानी में भी एकरूपता सहज ही पाई जाती है ।

उसीप्रकार जैसे किसी के मन मे खोटा भाव आया, उसे उसने वाणी मे भी व्यक्त कर दिया और काया से वैसा कार्य भी कर डाला तो क्या उसके आर्जवधर्म प्रकट हो जावेगा ? फिर तो आर्जवधर्म प्राप्त करने के लिए मन मे आये प्रत्येक खोटे भाव को वाणी में लाना और क्रियात्मकरूप देना अनिवार्य हो जायगा, जो कि किसी भी स्थिति में इष्ट नही हो सकता ।

'मन में होय सो वचन उचरिये' के सन्दर्भ में एक वात यह भी विचारणीय है कि – क्या आर्जवधर्म के लिए वोलना जरूरी है ? क्या विना वोले आर्जवधर्म की सत्ता सम्भव नही है ? जो भावलिंगी संत मौनव्रत के धारी है क्या उनके आर्जवधर्म नही है ? बाहुवली दीक्षा लेने के वाद एक वर्ष तक ध्यानस्थ खडे रहे, कुछ वोले ही नही; तो क्या उनके आर्जवधर्म नही था ? था, अवश्य था । तो फिर आर्जवधर्म होने के लिए बोलना जरूरी नही रहा ।

यदि जैसा मन में हो वैसा ही वोल दें, तो क्या आर्जवधर्म हो जायगा ? नही, क्योकि इसप्रकार तो फिर विकृत-मन और विकृत-वाणी वाला अर्द्धविक्षिप्त व्यक्ति आर्जवधर्म का धनी हो जायगा, क्योकि उसके मन में जो आता वह वही वक देता है ।

जिसप्रकार वोलने के सम्वन्ध मे यहाँ स्पष्ट किया गया है, उसी प्रकार करने के सम्बन्ध मे भी समझ लेना चाहिए ।

आर्जवधर्म और मायाकपाय ये दोनो ही जीव के भाव है एव मन-वचन-काय पुद्गल की अवस्थाएँ हैं। जीव और पुद्गल दोनो जुदे-जुदे द्रव्य हैं और उनकी परिणतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। आर्जव धर्म आत्मा का स्वभाव एव स्वभाव-भाव है तथा मायाकपाय आत्मा का विभाव-भाव है। स्वभाव और स्वभाव-भाव होने के लिए तो पर की आवश्यकता का प्रश्न ही नही उठता, विभाव-भाव मे भी पर निमित्तमात्र ही होता है। निमित्त भी कर्मोदय तथा अन्य बाह्य पदार्थ होगे, मन-वचन-काय नही। अत: मन-वचन-काय से आर्जवधर्म और मायाकषाय के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नही उठता।

यद्यपि यह सत्य है कि आर्जवधर्म के होने के लिए मन-वचन-काय की आवश्यकता नही, क्योकि मन-वचन-कायरहित सिद्धो के वह विद्यमान है। इसीप्रकार मायाकषाय की उपस्थिति के लिए भी तीनो की अनिवार्य उपस्थिति आवश्यक नही, क्योकि एकेन्द्रिय के अकेली काया है फिर भी उसके माया पायी जाती है, जैसा कि पहिले सिद्ध किया जा चुका है, तथापि समझने-समझाने के लिए उनकी उपयोगिता है, क्योकि इनके विना हमारे पास मायाकषाय और आर्जवधर्म को समझने-समझाने के लिए कोई दूसरा साधन नही है। यही कारण है कि इन्हे मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-समझाया जाता है।

दूसरी वात यह भी तो है कि समझने वाले और समझाने वाले दोनो ही मन-वचन-काय वाले हैं और समझने-समझाने का माध्यम भी मन-वचन-काय है। जिनके इनका अभाव है, ऐसे सिद्ध कभी किसी को समझाते नही एव जिनके इनमे से एक का भी अभाव है, ऐसे असैनी पचेन्द्रिय तक के संसारी जीव समझते नही। विशेपकर मनुष्य जाति मे ही इनकी चर्चा चलती है तथा मनुष्य का मायाचार प्राय. मन-वचन-काय की विरूपता मे तथा आर्जवधर्म इनकी एकरूपता मे प्रकट होता देखा जाता है।

अत आर्जवधर्म एवं मायाकपाय को मन-वचन-काय के माध्यम से समझा-समझाया जाता है।

मन-वचन-काय के माध्यम से मायाचार एव आर्जवधर्म होते नही, प्रकट होते हैं। समझने-समझाने के लिए प्रकट होना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योकि प्रकट वस्तु को समझना-समझाना जितना

आसान है, उतना अप्रकट को नही। एकेन्द्रिय के मन और वचन का अभाव होने मे उसके मायाकषाय अप्रकट रहती है, अतः उसमे माया-कषाय की उपस्थिति आगम से ही जानी जाती है, उसे युक्ति से सिद्ध करना सम्भव नही। इसीप्रकार सिद्धों में आर्जवधर्म भी आगमसिद्ध ही है, युक्तियो से सिद्ध करना कठिन है। जो युक्तियाँ दी जावेगी, अन्ततः वे सब आगमाश्रित ही होंगी।

यद्यपि उक्त कारणों के कारण समझने-समझाने मे मन-वचन-काय के माध्यम का प्रयोग किया जाता है तथापि समझने-समझाने की इस पद्धति के कारण कोई यदि यही मान ले कि मायाकषाय एवं आर्जवधर्म के लिए मन-वचन-काय आवश्यक है, तो उसका मानना सही न होगा।

यद्यपि मन-वचन-काय की विरूपता नियम से मायाचारी के ही होगी तथा जितने अंश मे आर्जवधर्म प्रकट होगा, उतने अंश मे तीनो की एकरूपता भी होगी ही; तथापि मायाकषाय और आर्जवधर्म इन तक ही सीमित नही, और भी है – यहाँ यही बताना है।

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि मन-वचन-काय के माध्यम से आर्जवधर्म और मायाकषाय को समझने-समझाने का मूल कारण यह है कि मन-वचन-काय वालों की मायाकषाय और आर्जवधर्म प्रायः मन-वचन-काय के माध्यम से ही प्रकट होते है।

यदि ऐसी बात है तो फिर तो यह बात ठीक ही है कि :–

'मन मे होय सो वचन उचरिये, बचन होय सो तन सों करिये।'

हाँ! हाँ!! ठीक है, पर किनके लिये, इसका भी विचार किया या नही? यह बात उनके लिये है, जिनका मन इतना पवित्र हो गया है कि जो बात उनके मन मे आई है वह यदि वाणी मे भी आ जाय तो फूलो की वर्षा हो और उसे यदि कार्यान्वित कर दिया जाय तो जगत निहाल हो जावे; उनके लिए नही, जिनका मन पापो से भरा है, जिनके मन मे निरन्तर खोटे भाव ही आया करते हैं, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह का ही चिन्तन जिनके सदा चलता रहता है। यदि उन्होने भी यही बात अपना ली तो मन के समान उनकी वाणी भी अपावन हो जावेगी तथा उनका जीवन घोर पापमय हो जावेगा।

'मन मे होय सो वचन उचरिये' का आशय मात्र यह है कि मन को इतना पवित्र बनाओ कि उसमे कोई खोटा भाव आवे ही नही ।

जिनके हृदय में निरन्तर अपवित्र भाव ही आया करते हैं, उनके लिए तो यही ठीक है कि :—

'मन मे होय सो मन मे रखिये, वचन होय तन सो न करिये ।'

क्यो ?

क्योकि आज लोगो के मन इतने अपवित्र हो गये है, उनके मनो मे इतनी हिंसा समा गई है कि यदि वह वाणी मे फूट पडे तो जगत मे कोलाहल मच जाये और यदि जीवन मे आ जाय तो प्रलय होने मे देर न लगे । इसीप्रकार मन इतना वासनामय और विकृत हो गया है कि यदि मन का विकार वाणी और काया मे फूट पडे तो किसी भी माँ-बहिन की इज्जत सुरक्षित न रहे । अत यह ही ठीक है कि जो पाप मन मे आ गया, उसे वही तक सीमित रहने दो, वाणी मे न लाओ, जो वाणी मे आ गया, उसे क्रियान्वित मत करो ।

जरा विचार तो करो कि गुस्से मे यदि मेरे मुँह से यह निकल जाय कि 'मै तुम्हे जान से मार डालूँगा' तो क्या यह उचित होगा कि मै अपनी बात को कार्यरूप मे भी परिणित करूँ ? नही, कदापि नही । बल्कि आवश्यक तो यह है कि मै उस विचार को भी तत्काल त्याग दूँ ।

अत यही उचित है कि मन-वचन-काय की एकरूपता अच्छाई मे ही हो, बुराई मे नही । हमे मन-वचन-काय मे एकरूपता लाने के लिए मन को इतना पवित्र बनाना होगा कि उसमे कोई खोटा भाव कभी उत्पन्न ही न हो, अन्यथा उनकी एकरूपता रखना न तो सम्भव ही होगा और न हितकर ही ।

तत्त्वार्थसूत्र मे उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव आदि दशधर्मों की चर्चा गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा और परीषहजय के साथ की गई है — ये सब मुनिधर्म से सम्बन्धित है । अत: आर्जवधर्म की चर्चा भी उन मुनिराजो के सन्दर्भ मे ही हुई है, जिनके मन-वचन-काय की दशा निम्नलिखितानुसार हो रही है :—

दिन रात आत्मा का चिंतन, मृदुसभाषण मे वही कथन ।
निर्वस्त्र दिगम्बर काया से भी, प्रकट हो रहा अन्तर्मन ।।

वे दिन-रात आत्मा का ही चिन्तन-मनन-अनुभवन करते रहते हैं, अत. उनकी वाणी मे भी उसकी ही चर्चा निकलती है और चर्चा करते-करते वे आत्मानुभवन मे समा जाते हैं। उनके मन मे अशुभ भाव आते ही नही।

हमारी स्थिति उनसे भिन्न है। अत हमे अपने स्तर पर विचार करना जरूरी है। मन मे होने पर भी बहुत से पापो से जीवन मे हम इसलिए वचे रहते हैं कि समाज उन कार्यों को बुरा मानता है, सरकार उन कार्यो को करने से रोकती है। कभी-कभी हमारा विवेक भी उन कार्यो मे हमे प्रवृत्त नही होने देता। वाणी को भी हम उक्त कारणो से काफी सयमित रखते है।

यही कारण है कि जगत के कायिक जीवन मे उतनी विकृति नही, जितनी की जन-जन के मनो मे है। 'मन मे होय सो वचन उचरिये, वचन होय सो तन सो करिये' का उपदेश मन की विकृतियों को वाहर लाने के लिए नही, वरन् उन्हे समाप्त कर मन को पावन वनाने के लिए है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि यदि यह वात है तो फिर आप यह क्यो कहते है कि – 'मन मे होय सो मन मे रखिये।' इसका भी कारण है और वह यह कि मन को इतना पवित्र वना लेना इतना आसान नही कि यहाँ हमने कहा और वहाँ आपने वना लिया। वह तो वनते-वनते ही बनेगा। अत' जव तक मन पूर्णत पावन नही वन पाता, उसमे दुर्भाव उत्पन्न होते रहते है, तव तक हमारी उक्त सलाह पर चलना मात्र उपयुक्त ही नही वरन् आवश्यक भी है, अन्यथा आपका जीवन स्वाभाविक भी न रह सकेगा।

यदि मन को पवित्र वनाये विना ही आपने मन की वाते वाणी मे उगलना आरम्भ कर दिया एव उन्हे कार्यरूप मे भी परिणत करने की कोशिश की तो हो सकता है कि लोग आपको मानसिक चिकित्सा-लय मे प्रवेश दिलाने का प्रयत्न करने लगें।

वैसे तो प्रत्येक व्यक्ति मन मे आये खोटे भावो को रोकने का प्रयत्न करता ही है। वह चाहता है कि वाणी में खोटा भाव प्रकट ही न हो। पर कभी-कभी जव मन भर जाता है, वह भाव मन मे समाता नही, तो वाणी मे फूट पड़ता है। एक वात यह भी है कि जव कोई भाव निरतर मन मे वना रहता है तो फिर वह वाणी मे

फूटता ही है। मन सदा ही अपावन बना रहे तो आखिर हम उसे वाणी में आने से और जीवन मे उतरने से कब तक रोकेंगे? उसका पूरी तरह रोकना सम्भव भी तो नही है।

जो जहाँ से आते हैं, वहाँ की बातें उनके मन मे छाई रहती हैं, अतः वे सहज ही वहाँ की चर्चा करते हैं। यदि कोई आदमी अभी-अभी अमेरिका से आया हो तो वह बात-बात मे अमेरिका की चर्चा करेगा। भोजन करने बैठेगा तो बिना पूछे ही बतायेगा कि अमेरिका में इसतरह खाना खाते हैं, चलेगा तो कहेगा कि अमेरिका मे इस प्रकार चलते हैं। कुछ बाजार से खरीदेगा तो कहेगा कि अमेरिका में तो यह चीज इस भाव मिलती है, आदि।

इसीप्रकार सदा आत्मा मे विचरण करने वाले मुनिराज और ज्ञानीजन सदा आत्मा की ही बात करते है और विषय-कषाय में विचरण करने वाले मोहीजन विषय-कषाय की ही चर्चा करते हैं।

अतः 'मन मे होय सो वचन उच्चरिये, वचन होय सो तन सो करिये' का आशय जो मन मे आवे उसी को बक देना और जो मुँह से निकल गया वही कर डालना नही, वरन् यह है कि मनुष्य-जीवन में जो करने योग्य है हम उसी को वाणी मे लावे और जो करने योग्य एवं कहने योग्य है, हमारे मन मे बस वे ही विचार आवे, अन्य कुविचार नही।

यह बात तो ठीक, पर मूल प्रश्न तो यह है कि मायाचार छोडने के लिए, मन-वचन-काय की विरूपता, कुटिलता, वक्रता से बचने के लिए तथा आर्जवधर्म प्रकट करने के लिए अर्थात् मन की बात वाणी में लाने से फूलो की वर्षा हो और जीवन मे उतारने से जगत् निहाल हो जावे, ऐसा पवित्र मन बनाने के लिए क्या करे?

उत्तम आर्जवधर्म प्रकट करने के लिए सर्वप्रथम यह जानना होगा कि वस्तुत. मायाकपाय मन-वचन-काय की विरूपता, वक्रता या कुटिलता का नाम नही, वरन् आत्मा की विरूपता, वक्रता या कुटिलता का नाम है। मन-वचन-काय के माध्यम से तो वह प्रकट होती है, उत्पन्न तो आत्मा मे ही होती है।

आत्मा का स्वभाव जैसा है वैसा न मानकर अन्यथा मानना, अन्यथा ही परिणमन करना चाहना ही, अनत वक्रता है। जो जिसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नही है, उसे उसका कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता मानना-चाहना

ही अनत कुटिलता है। रागादि आस्रवभाव दु खरूप एवं दु खों के कारण हैं, उन्हे सुखस्वरूप एव सुख का कारण मानना, तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना, ससार मे रचमात्र भी सुख नही है, फिर भी उसमे सुख मानना एव तद्रूप परिणमन कर सुख चाहना ही वस्तुत. कुटिलता है, वक्रता है। इसीप्रकार वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा न मानकर, उसके विरुद्ध मानना एव वैसा ही परिणमन करना चाहना विरूपता है।

यह सब आत्मा की वक्रता है, कुटिलता है एव विरूपता है। यह वक्रता-कुटिलता-विरूपता तो वस्तु का सही स्वरूप समझने से ही जावेगी।

जैसा आत्मा का स्वभाव है, उसे वैसा ही जानना, वैसा ही मानना और उसी मे तन्मय होकर परिणम जाना ही वीतरागी सरलता है, उत्तमआर्जव है। मुनिराजो के जो उत्तमआर्जवधर्म होता है, वह इसीप्रकार का होता है अर्थात् वे आत्मा को वर्णादि और रागादि से भिन्न जानकर उसमे ही समा जाते है, वीतरागतारूप परिणम जाते हैं, यही उनका उत्तमआर्जवधर्म है, बोलने और करने मे आर्जवधर्म नही। आर्जवधर्म की जैसी उत्कृष्ट दशा उनके ध्यान-काल मे होती है, वैसी उत्कृष्ट दशा बोलते समय या कार्य करते समय नही होती।

बोलते और अन्य कार्य करते समय भी जो आर्जवधर्म उनके विद्यमान है, वह बोलने-करने की क्रिया के कारण नही, उस समय आत्मा मे विद्यमान सरलता के कारण है।

निष्कर्ष के रूप मे कहा जा सकता है कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का सम्यक् एव एकरूप परिणमन ही आत्मा की एकरूपता है, वही वीतरागी सरलता है और वही वास्तविक उत्तमआर्जवधर्म है। लौकिक मे छल-कपट के अभावरूप मन-वचन-काय की एकरूपतारूप सरल परिणति को व्यवहार से आर्जवधर्म कहा जाता है।

अन्तर से बाहर की व्याप्ति होने से जिनके निश्चय उत्तम आर्जव प्रकट होता है, उनका व्यवहार भी नियम से सरल होता है अर्थात् उनके व्यवहार-आर्जव भी नियम से होता है। जिनके व्यवहार मे भी भूमिकानुसार सरलता नही, उनके तो निश्चय आर्जव होने का प्रश्न ही नही उठता।

मन-वचन-काय मे भी वास्तविक एकरूपता आत्मा में उत्पन्न सरलता के परिणाम-स्वरूप आती है। 'मैं मन को पवित्र रखूं, उसमे कोई बुरी बात न आने दूँ' – इसप्रकार के विकल्पो से आर्जवधर्म प्रकट नही होता। वस्तु के सही स्वरूप को जाने-माने बिना वीतरागी सरलतारूप आर्जवधर्म प्रकट नही किया जा सकता। आर्जवस्वभावी आत्मा के आश्रय से ही मायाचार का अभाव होकर वीतरागी सरलता प्रकट होती है।

क्रोध और मान के समान माया भी चार प्रकार की होती है.– १ अनंतानुबंधीमाया, २ अप्रत्याख्यानावरणमाया ३ प्रत्याख्यानावरणमाया और ४ संज्वलनमाया।

अनतानुबंधीमाया का अभाव आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि के ही होता है। सम्यग्दर्शन प्राप्त किये बिना अनत प्रयत्न करने पर भी अनंतानुबधीमाया का अभाव नही किया जा सकता तथा जब तक अनतानुबंधीमाया है तब तक नियम से चारो प्रकार की मायाकषाये विद्यमान है, क्योकि सर्वप्रथम अनतानुबधीमाया का ही अभाव होता है।

शास्त्रो मे स्पष्ट उल्लेख है कि सम्यग्दृष्टि के अनतानुबधी कषायो, अणुव्रती के अप्रत्याख्याणावरण कषायो, महाव्रती के प्रत्याख्यानावरण कषायो एव यथाख्यातचारित्र वालों के संज्वलन कषायो का अभाव होता है। उक्त भूमिकाओ के पूर्व इन कषायो का अभाव सम्भव नही है।

इससे यह सिद्ध होता है कि यदि कषायो का अभाव करना है तो उसका उपाय कषायो की तरफ देखना नही और न उन वस्तुओ की ओर देखना ही है जिनके लक्ष्य से ये कषाये उत्पन्न होती है, वरन् अकषायस्वभावी अपनी आत्मा की ओर देखना है, अपनी आत्मा का जानना, मानना और अनुभव करना है, आत्मा में ही जम जाना, रम जाना, समा जाना है।

अपने को जानने-मानने वाले एव अपने मे ही निमग्न, वीतरागी सरलता मे सम्पन्न सतो को नमस्कार करते हुए इस पवित्र भावना के साथ कि जन-जन अकषायस्वभावी आत्मा का आश्रय लेकर उत्तम आर्जवधर्म प्रकट करे, आर्जवधर्म की चर्चा से विराम लेता हूँ।

उत्तमशौच

'शुचेर्भाव शौचम्' शुचिता अर्थात् पवित्रता का नाम शौच है। शौच के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। अत सम्यग्दर्शन के साथ होने वाली वीतरागी पवित्रता ही उत्तम शौचधर्म है।

शौचधर्म की विरोधी लोभकपाय मानी गयी है। लोभ को पाप का बाप कहा जाता है, क्योकि जगत मे ऐसा कौनसा पाप है जिसे लोभी न करता हो। लोभी क्या नही करता? उसकी प्रवृत्ति जैसे भी हो, येन-केन-प्रकारेण धनादि भोग-सामग्री इकट्ठी करने की ही रहती है।

लोभी व्यक्ति की प्रवृत्ति का चित्रण महापडित टोडरमलजी ने इसप्रकार किया है :–

"जब इसके लोभकपाय उत्पन्न हो तब इष्ट पदार्थ के लाभ की इच्छा होने से, उसके अर्थ अनेक उपाय सोचता है। उसके साधनरूप वचन बोलता है, शरीर की अनेक चेष्टा करता है, बहुत कष्ट सहता है, सेवा करता है, विदेश गमन करता है, जिसमे मरण होना जाने वह कार्य भी करता है। जिनमे बहुत दु ख उत्पन्न हो ऐसे आरम्भ करता है। तथा लोभ होने पर पूज्य व इष्ट का भी कार्य हो, वहाँ भी अपना प्रयोजन साधता है, कुछ विचार नही रहता। तथा जिस इष्ट वस्तु की प्राप्ति हुई है, उसकी अनेक प्रकार से रक्षा करता है। यदि इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो या इष्ट का वियोग हो तो स्वय बहुत सतापवान होता है, अपने अंगो का घात करता है तथा विष आदि से मर जाता है। ऐसी अवस्था लोभ होने पर होती है।"[1]

आचार्य शुभचन्द्र ने तो 'ज्ञानार्णव' के उन्नीसवे सर्ग मे यहाँ तक लिखा है :–

स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानबलाबालाश्च जीर्णदीनादीन्।
व्यापाद्य विगतशङ्को लोभार्तो वित्तमादत्ते ॥७०॥
ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः प्रोक्ता।
प्रभवन्ति निर्विचार ते लोभादेव जन्तूनाम् ॥७१॥

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ५३

इस लोभकषाय से पीडित हुआ व्यक्ति अपने मालिक, गुरु, वन्धु, वृद्ध, स्त्री, वालक; तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीनादि को भी नि.शंकता से मार कर धन को ग्रहण करता है।

नरक ले जाने वाले जो-जो दोप सिद्धान्तशास्त्रो मे कहे गये हैं वे सव लोभ से प्रकट होते हैं।

पैसे का लोभी व्यक्ति सदा जोड़ने मे ही लगा रहता है, भोगने का उसे समय ही नही मिलता। पशुओ का लोभ पेट भरने तक ही सीमित रहता है, पेट भर जाने पर वह कुछ समय को ही सही सन्तुष्ट हो जाता है; पर मानव की समस्या मात्र पेट भरने तक सीमित नही रही, वह पेटी भरने के चक्कर में सदा ही असन्तुष्ट बना रहता है।

दिन रात हाय पैसा ! हाय पैसा !! उसे पैसे के अतिरिक्त कुछ दिखाई ही नही देता। वह यह नही समझता कि अनेक प्रयत्न करने पर भी पुण्योदय के विना धनादि अनुकूल संयोगों को प्राप्त नही किया जा सकता, क्योकि धनादि सयोगो की प्राप्ति पूर्वकृत पुण्य का फल है।

इसी वात की ओर ध्यान आकर्पित करने हेतु 'भगवती आराधना' मे लिखा है :—

लोभे कए वि अत्थो ण होइ पुरिसस्स अपडिभोगस्स।
अकएवि हवदि लोभे अत्थो पडिभोगवंतस्स ॥१४३६॥

लोभ करने पर भी पुण्यरहित मनुष्य को द्रव्य मिलता नही है और न करने पर भी पुण्यवान को धन की प्राप्ति होती है।

अतः धन की प्राप्ति में लोभ-आसक्ति कारण नही, परन्तु पुण्य ही कारण है। ऐसा विचार कर लोभ का त्याग करना चाहिए।

इसके पश्चात् उच्छिष्ट धन के लोभ के त्याग की प्रेरणा देते हुए लिखा है :—

सव्वे वि जए अत्था परिगहिदा ते अणंत खुत्तो मे।
अत्थेसु इत्थ कोमज्झ विभओ गहिदविज्जडेसु ॥१४३७॥
इह य परत्तए लोए दोसे वहुए य आवहइ लोभो।
इदि अप्पणो गणित्ता णिज्जेदव्वो हवदि लोभो ॥१४३८॥

इस लोक मे अनंतवार धन प्राप्त किया है, अतः अनंतवार ग्रहणकर त्यागे हुए इस धन के विपय में आश्चर्यचकित होना व्यर्थ है।

इस लोक व परलोक मे यह लोभ अनेक दोप उत्पन्न करता है— ऐसा जानकर लोभ पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

आज की दुनियाँ में रुपये-पैसे के लोभ को ही लोभ माना जाता है। कोई विषय-कषाय में ही क्यो न खर्चे, पर दिल खोलकर खर्च करने वालों को दरियादिल एवं कम खर्च करने वालों को लोभी कहा जाता है।

किसी ने आपको चाय-नाश्ता करा दिया, सिनेमा दिखा दिया तो वह आपकी दृष्टि में निर्लोभी हो गया और यदि उसके भी चाय-नाश्ते का बिल आपको चुकाना पड़ा या सिनेमा के टिकट आपको खरीदने पड़े तो आप कहने लगेंगे – हाय राम ! बड़े लोभी से पाला पड़ा।

इसीप्रकार धर्मार्थ संस्था के लिए ही सही, आप चन्दा मांगने गये और किसी ने आपकी कल्पना से कम चन्दा दिया या न दिया तो लोभी, और यदि कल्पना से अधिक दे दिया तो निर्लोभी, चाहे उसने यश के लोभ मे ही अधिक चन्दा क्यों न दिया हो। इसप्रकार यश के लोभियो को प्राय: निर्लोभी मान लिया जाता है।

ऊपर से उदार दिखने वाला अन्दर से बहुत बडा लोभी भी हो सकता है; इस बात की ओर हमारा ध्यान ही नही जाता।

अरे भाई ! पैसे का ही लोभ सब-कुछ नही है, लोभ तो कई प्रकार का होता है। यश का लोभ, रूप का लोभ, नाम का लोभ, काम का लोभ आदि।

वस्तुत: तो पाँचो इन्द्रियो के विषयों की एवं मानादि कषायों की पूर्त्ति का लोभ ही लोभ है। पैसे का लोभ तो कृत्रिम लोभ है। यह तो मनुष्य भव की नयी कमाई है। लोभ तो चारों गतियों में होता है, किन्तु रुपये-पैसे का व्यवहार तो चारों गतियों मे नही है। यदि रुपये-पैसे के लोभ को ही लोभ मानें तो अन्य गतियों मे लोभ की सत्ता सम्भव न होगी, जबकि कषायों की बाहुल्यता का वर्णन करते हुए आचार्यों ने लोभ की अधिकता देवगति में बताई है।

नारकियों में क्रोध, मनुष्यो में मान, तिर्यंचो में माया और देवो में लोभ की प्रधानता होती है। देवगति में पैसे का व्यवहार नही है, अत: लोभ को पैसे की सीमा में कसे बांधा जा सकता है ?

पैसा तो विनिमय का एक कृत्रिम साधन है। रुपये-पैसे मे ऐसा कुछ नही है कि जो जीव को लुभाए। लोग न उसके रूप पर लुभाते हैं, न रस पर।

जिन कागज के नोटों पर यह मानव मर मिटने को फिर रहा है, यदि वे नोट गाय के सामने रखो तो वह सूँघेगी भी नही, जबकि घास पर झपट पड़ेगी। गाय की दृष्टि मे नोटों की कीमत घास के बराबर भी नही, पर यह अपने को सभ्य कहने वाला मानव उनके पीछे दिन-रात एक किए डालता है। ऐसा क्या जादू है उनमे ?

उनके माध्यम से पंचेन्द्रियो के विषयो की प्राप्ति होती है, मानादि कषायो की पूर्त्ति होती है। यही कारण है कि मानव उनके प्रति लुभा जाता है। यदि उनके माध्यम से भोगो की प्राप्ति सम्भव न हो, यशादि की प्राप्ति सम्भव न हो, तो उनको कोई भटे के भी भाव न पूछे।

पैसे की प्रतिष्ठा आरोपित है, स्वय की नही, अत. पैसो का लोभ भी आरोपित है।

रूप के लोभी, नाम के लोभी रुपये-पैसों को पानी की तरह बहाते कही भी देखे जा सकते हैं। कही कोई सुन्दर कन्या देखी और राजा साहब लुभा गये। फिर क्या ? कुछ भी हो, वह कन्या मिलनी ही चाहिए। ऐसे सैकडो उदाहरण मिल जावेगे पुराणो मे, इतिहास मे। राजा श्रेणिक चेलना के, पवनञ्जय अजना के रूप पर ही तो लुभाए थे।

नाम के लोभी भी यह कहते मिलेंगे – भाई ! सबको एक दिन मरना ही है, कुछ करके जावो तो नाम अमर रहेगा। आत्मा को मरणशील और नाम को अमर मानने वाले और कौन है ? नाम के लोभी ही तो है। क्या दम है नाम की अमरता मे ? एक नाम के अनेक व्यक्ति होते है, भविष्य मे कौन जानेगा यह किसका नाम था ?

नाम की अमरता के लिए पाटियो पर नाम लिखानेवालो ! जरा यह तो सोचो – भरत चक्रवर्ती जब अपना नाम लिखने गये तो वहाँ चक्रवर्तियो के नाम से शिला भरी पाई। एक नाम मिटाकर अपना नाम लिखना पडा। वे सोचने लगे – आगे आने वाला चक्रवर्ती मेरा नाम मिटाकर अपना नाम लिखेगा।

और न जाने कितने-कितने प्रकार के लोभी होते है ? चार प्रकार के लोभ तो आचार्य अकलकदेव ने ही 'राजवार्तिक' मे गिनाए हैं – जीवन-लोभ, आरोग्य-लोभ, इन्द्रिय-लोभ और उपभोग-लोभ।

आचार्य अमृतचंद्र ने भी 'तत्त्वार्थसार' मे चार प्रकार के लोभ की चर्चा की है। वे उसमें लिखते है :-

परिभोगोपभोगत्व जीवितेन्द्रियभेदत ।
चतुर्विधस्य लोभस्य निवृत्ति शौचमुच्यते ।।१७।।

भोग, उपभोग, जीवन एव इन्द्रियों के विषयों का – इसप्रकार लोभ चार प्रकार का होता है। इन चारो प्रकार के लोभ के त्याग का नाम शौचधर्म है।

उक्त दोनो प्रकारों मे मात्र इतना ही अन्तर है कि अकलकदेव ने उपभोग मे भोग और उपभोग दोनो सम्मिलित कर लिये हैं तथा आरोग्य का लोभ अलग से भेद कर लिया है।

लोभ के उक्त प्रकारों में रुपये-पैसे का लोभ कही भी नही आता है।

लोभ के उक्त प्रकारो पर ध्यान दे तो पचेन्द्रियो के विषयों के लोभ की ही प्रमुखता दिखाई देती है। भोग और उपभोग इन्द्रियों के विषय ही तो हैं। शारीरिक आरोग्य भी इन्द्रियो की विषय-ग्रहण शक्ति से ही सम्बन्धित है, क्योंकि पाँच इन्द्रियों के अतिरिक्त और शरीर क्या है ? इन्द्रियों के समुदाय का नाम ही तो शरीर है। जीवन का लोभ भी शरीर के संयोग बने रहने की लालसा के अतिरिक्त क्या है ? इसप्रकार हम देखते है कि पचेन्द्रिय के विषयो में उक्त सभी प्रकार समा जाते हैं।

पचेन्द्रियो के विषयों के लोभ मे फसे जीवों की दुर्दशा का चित्रण करते हुए तथा लोभ के त्याग की प्रेरणा देते हुए परमात्मप्रकाशकार इसप्रकार लिखते हैं :-

रूवि पयंगा सद्दि मय गय फासहि णासंति ।
अलिउल गंधइँ मच्छ रसि किम अणुराउ करंति ।।२।।११२।।
जोइय लोहु परिच्चयहि लोहु ण भल्लउ होइ ।
लोहासत्तउ सयलु जगु दुक्खु सहंतउ जोइ ।।२।।११३।।

रूप के लोभी पतगे दीपक पर पड़कर, कर्णप्रिय शब्द के लोभी हिरण शिकारी के बाण में विधकर, स्पर्श (काम) के लोभी हाथी हथिनी के लोभ से गड्ढे में पड़कर, गध के लोभी भौंरे कमल में वधकर, और रस के लोभी मच्छ धीवर के काँटे मे विधकर या जाल में फँसकर दु ख उठाते हैं, नाश को प्राप्त होते हैं। हे जीव ! ऐसे विषयों का क्यो लोभ करते हो, उनसे अनुराग क्यों करते हो ?

हे योगी ! तू लोभ को छोड। यह लोभ किसी प्रकार अच्छा नही। क्योकि सम्पूर्ण जगत इसमें फसा हुआ दु ख उठा रहा है।

आत्मस्वभाव को आच्छन्न करने वाली शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय जव अपनी तीव्रता मे होती है तो अन्य कपायो को भी दवा देती है। लोभी व्यक्ति मानापमान का विचार नही करता। वह क्रोध को भी पी जाता है।

लोभ दूसरी कपायो को तो काटता ही है, स्वय को भी काटता है। यश का लोभी धन का लोभ छोड़ देता है।

हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लोभियो की वृत्ति पर व्यग करते हुए लिखते हैं :–

"लोभियो का दमन योगियो के दमन से किसी प्रकार कम नही होता। लोभ के वल से वे काम और क्रोध को जीतते है, सुख की वासना का त्याग करते है, मान-अपमान मे समान भाव रखते है। अव और चाहिये क्या ? जिससे वे कुछ पाने की आशा रखते हैं, वह यदि उन्हे दस गालियाँ भी देता है तो उनकी आकृति पर न रोष का कोई चिह्न प्रकट होता है और न मन में ग्लानि होती है। न उन्हे मक्खी चूसने मे घृणा होती है और न रक्त चूसने मे दया। सुन्दर रूप देखकर अपनी एक कौड़ी भी नही भूलते। करुण से करुण स्वर सुनकर वे अपना एक पैसा भी किसी के यहाँ नही छोडते। तुच्छ से तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ फैलाने मे लज्जित नही होते।"[१]

वे और भी लिखते हैं :–

"पक्के लोभी लक्ष्य-भ्रष्ट नही होते, कच्चे हो जाते हैं। किसी वस्तु को लेने के लिए कई आदमी खीचतान कर रहे है, उनमे से एक क्रोध मे आकर वस्तु को नष्ट कर देता है, उसे पक्का लोभी नही कह सकते, क्योकि क्रोध ने उसके लोभ को दवा दिया, वह लक्ष्य-भ्रष्ट हो गया।"[२]

लालसा, लालच, तृष्णा, अभिलाषा, चाह आदि लोभ क अनेक नाम है। प्रेम या प्रीति भी लोभ के ही नामान्तर है। जव लोभ किसी वस्तु के प्रति होता है तो उसे लोभ या लालच कहा जाता है, पर जव

---

[१] चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ ५८

[२] वही, पृष्ठ ५६

वही लोभ किसी व्यक्ति के प्रति होता है तो उसे प्रीति या प्रेम नाम दिया जाता है।

पचेन्द्रिय के विषयो के प्रति प्रेम लोभ ही तो है। पचेन्द्रिय के विषय चेतन भी हो सकते है और अचेतन भी। चेतन विषयों के प्रति हुए रागात्मक भाव को प्रेम एवं अचेतन पदार्थों के प्रति हुए रागात्मक भाव को प्राय लोभ कह दिया जाता है। पुरुष के स्त्री के प्रति आकर्षण को प्रेम की सज्ञा ही दी जाती है।

इस सम्बन्ध में शुक्लजी के विचार और दृष्टव्य हैं :–

"पर साधारण बोल-चाल में वस्तु के प्रति मन की जो ललक होती है उसे 'लोभ' और किसी भी व्यक्ति के प्रति जो ललक होती है उसे 'प्रेम' कहते हैं। वस्तु और व्यक्ति के विषय-भेद से लोभ के स्वरूप और प्रवृत्ति मे बहुत भेद पड़ जाता है, इससे व्यक्ति के लोभ को अलग नाम दिया गया है। पर मूल मे लोभ और प्रेम दोनो एक ही हैं।"[1]

परिष्कृत लोभ को उदात्त प्रेम, वात्सल्य आदि अनेक सुन्दर-सुन्दर नाम दिये जाते हैं; पर वे सब आखिर है तो लोभ के रूपान्तर ही। माता-पिता, पुत्र-पुत्री आदि के प्रति होने वाले राग को पवित्र ही माना जाता है।

कुछ लोभ तो इतना परिष्कृत होता है कि वह लोभ-सा ही नही दिखता। उसमे लोगो को धर्म का भ्रम हो जाता है। स्वर्गादि का लोभ इसीप्रकार का होता है।

वात बुन्देलखण्ड की है, बहुत पुरानी। एक सेठ साहब को उनके स्नेही पंडितजी लोभी कहा करते थे। एक बार सेठ साहब ने पंडितजी से पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करवाने एव गजरथ चलवाने का विचार व्यक्त किया तो पडितजी तपाक से बोले – तुम जैसे लोभी क्या गजरथ चलायेंगे, क्या पचकल्याणक करायेंगे ?

सेठ साहव के वहुत आग्रह करने पर उन्होने कहा – अच्छा, आप करवाना ही चाहते है तो पाँच हजार रुपया मंगाइये। पंडितजी का कहना था कि सेठ साहव ने तत्काल हजार-हजार रुपयो की पाँच थैलिया लाकर पडितजी के सामने रख दी। उससमय नोटो का प्रचलन बहुत कम था। एक-एक थैली का वजन १०-१० किलो से भी अधिक था।

---

[1] चिन्तामणि, भाग १, पृष्ठ ५६

पंडितजी के कहने पर पाँच मजदूर बुलवाये गये तथा उनको थैलियाँ देकर बेतवा नदी के किनारे चलने को कहा। साथ में सेठजी और पडितजी भी थे।

गहरी धार के किनारे पहुँचकर पडितजी ने सेठजी से कहा कि इन रुपयो को नदी की गहरी धार मे फेक दो और घर चलकर गजरथ की तैयारी करो। जब सेठजी बिना मीन-मेख किये फेकने को तैयार हो गये तो पडितजी ने रोक दिया और कहा अब तुम पच-कल्याणक करा सकते हो। तात्पर्य यह कि यह समझो कि पाँच हजार तो पानी मे गये, अब और हिम्मत हो तो आगे बात करो।

उस समय के पाँच हजार आज के पाँच लाख के बराबर थे। पडितजी सेठजी का हृदय देखना चाहते थे। बाद मे बहुत जोरदार पंचकल्याणक हुआ। सेठजी ने दिल खोलकर खर्च किया।

अन्त मे 'अब आप मुझसे एक बार और लोभी कहिये' – कहकर सेठ साहब पडितजी की ओर देखकर मुस्कुराने लगे।

तब पडितजी ने कहा – 'लोभी, लोभी और महालोभी।'

क्यो और कैसे ? ऐसा पूछने पर वे कहने लगे – इसलिए कि जब आपसे यह धन यहाँ न भोगा जा सका तो अगले भव मे ले जाने के लिए यह सब-कुछ कर डाला। अगले भव तक के लिए भोगो का इन्तजाम करने वाले महालोभी नही तो क्या निर्लोभी होगे ?

स्वर्गादि के लोभ मे धर्म के नाम पर सब-कुछ करना यद्यपि लोभ ही है, तथापि ऐसे लोभी जगत मे धर्मात्मा-से दिखते हैं।

आचार्यो ने तो मोक्ष के चाहने वालों को भी लोभियो में ही गिना है; क्योंकि आखिर चाह लोभ ही तो है, चाहे किसी की भी क्यो न हो।

आचार्य परमेष्ठी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पंडित टोडरमलजी ने 'धर्म के लोभी' शब्द का भी प्रयोग किया है, जो इसप्रकार है :–

"कदाचित् धर्म के लोभी अन्य जीव–याचक–उनको देखकर राग अंश के उदय से करुणाबुद्धि हो तो उनको धर्मोपदेश देते है।"[1]

आचार्य अमृतचन्द्र ने ज्ञेय के लोभियो की भी चर्चा की है।[2]

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ४

[2] समयसार गाथा १५ की आत्मख्याति टीका मे

धर्म और धर्मात्माओं के प्रति उत्पन्न हुए राग को तो धर्म तक कह दिया जाता है, वह भी जिनवाणी मे भी; पर वह सव व्यवहार का कथन होता है। उसमे ध्यान रखने की वात यह है कि राग लोभान्त-कपायो का ही भेद है, वह अकषायरूप नही हो सकता। जव अकपायभाव – वीतरागभाव का नाम धर्म है, तो रागभाव – कपाय-भाव धर्म कैसे हो सकता है? अत. यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि लोभादिकषायरूपात्मक है स्वरूप जिसका, ऐसा राग चाहे वह मन्द हो चाहे तीव्र, चाहे शुभ हो चाहे अशुभ, चाहे अशुभ के प्रति हो चाहे शुभ के प्रति, वह धर्म नही हो सकता, क्योंकि है तो आखिर वह राग (लोभ) रूप ही।

यह वात सुनकर चौंकिये नही, जरा गम्भीरता से विचार कीजिए। शास्त्रो मे लोभ की सत्ता दशवे गुणस्थान तक कही है। तो क्या छठवें गुणस्थान से लेकर दशवें गुणस्थान तक विचरण करने वाले परमपूज्य भावलिंगी मुनिराजों को विपयो के प्रति लोभ होता होगा? नही, कदापि नही। उनके लोभ का आलम्बन धर्म और धर्मात्मा ही हो सकते है।

आप कह सकते है कि जिनके तन पर धागा भी नही, जो सर्वपरिग्रह के त्यागी हैं – ऐसे कुन्दकुन्द आदि मुनिराजो के भी लोभ? कैसी वाते करते हो? पर भाई! ये वातें मैं नही कर रहा, शास्त्रो मे हैं, और सभी शास्त्राभ्यासी इन वातो को अच्छी तरह जानते है।

अत· जव लोभ का वास्तविक अर्थ समझना है तो उसे व्यापक अर्थ मे ही समझना होगा। उसे मात्र रुपये-पैसे तक सीमित करने से काम नही चलेगा।

आप यह भी कह सकते हैं कि अपनी बात तो करते नही, मुनिराजो की वात करने लगे। पर भाई! यह क्यो भूल जाते हो कि यह शौचधर्म के प्रसग मे वात चल रही है और शौचधर्म का वर्णन शास्त्रो मे मुनियों की अपेक्षा ही आया है। उत्तमक्षमादि दशधर्म तत्त्वार्थसूत्र मे गप्ति-समितिरूप मुनिधर्म के साथ ही वर्णित है।

वहुत-सा लोभ जिसे आचार्यों ने पाप का वाप कहा है आज धर्म वन के वैठा है। धर्म के ठेकेदार उसे धर्म सिद्ध करने पर उतारू हैं। उसे मोक्ष तक का कारण मान रहे हैं और नही मानने वालो को कोस रहे हैं।

पच्चीस कषाएँ राग-द्वेष में गर्भित हैं। उनमें चार प्रकार का क्रोध, चार प्रकार का मान, अरति, शोक, भय एवं जुगुप्सा ये बारह कषाएँ – द्वेष हैं; और चार प्रकार की माया, चार प्रकार का लोभ, तीन प्रकार के वेद, रति एव हास्य ये तेरह कषाएँ – राग हैं।

इसप्रकार जब चारो प्रकार का लोभ राग मे गर्भित है, तब राग को धर्म मानने वालों को सोचना चाहिए कि वे लोभ को धर्म मान रहे हैं, पर लोभ तो पाप ही नही, पाप का बाप है।

राग चाहे मन्द हो, चाहे तीव्र, चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, वह होगा तो राग ही। और जब वह राग है तो वह या तो माया होगा या लोभ या वेद या रति या हास्य। इनके अतिरिक्त तो राग का और कोई प्रकार है ही नही शास्त्रों मे – हो तो बताये? ये तेरह कषाएँ ही राग हैं। अतः राग को धर्म मानने का अर्थ है कषाय को धर्म मानना, जबकि धर्म तो अकषायभाव का नाम है।

चारित्र ही साक्षात् धर्म है। और वह मोह तथा क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित अकषायभावरूप आत्मपरिणाम ही है। दशधर्म भी चारित्र के ही रूप हैं। अतः वे भी अकषायरूप ही हैं।

शौचधर्म – उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव से भी बड़ा धर्म है; क्योकि शौचधर्म की विरोधी लोभकषाय का अन्त क्रोध, मान, माया आदि समस्त कषायो के अन्त मे होता है। अतः जिसका लोभ पूर्णतः समाप्त हो गया, उसके क्रोधादि समस्त कषाएँ निश्चितरूप से समाप्त हो गयी। पच्चीसो कषायो मे सबसे अन्त तक रहने वाली लोभकषाय ही है। क्रोधादि पूरे चले जाएँ तब भी लोभ रह सकता है, पर लोभ के पूर्णतः चले जाने पर क्रोधादि की उपस्थिति भी सम्भव नही है।

यही कारण है कि सबसे खतरनाक कषाय लोभ है और सबसे बड़ा धर्म शौच है। कहा भी है –

'शौच सदा निरदोष, धर्म बड़ो संसार मे।'

उक्त कथन से एक बात यह भी प्रतिफलित होती है कि शौचधर्म मात्र लोभकषाय के अभाव का ही नाम नही, वरन् लोभान्त-कषायो के अभाव का नाम है। क्योकि यदि पवित्रता का नाम ही शौचधर्म है तो क्या सिर्फ लोभकषाय ही आत्मा को अपवित्र करती है, अन्य कषाएँ नही? यदि सभी कषाएँ आत्मा को अपवित्र करती है, तो फिर समस्त कषायो के अभाव का नाम ही शौचधर्म होना चाहिए।

यदि आप कहे कि क्रोध का अभाव तो क्षमा है, मान का अभाव मार्दव है, और माया का अभाव आर्जव है; अब लोभ ही बचा, अत. उसका अभाव शौच हो गया। तब मैं कहूँगा कि क्या क्रोध, मान, माया और लोभ ही कषाएँ है; हास्य, रति, अरति कषाएँ नही, भय, जुगुप्सा और शोक कषाएँ नही; स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक-वेद कषाएँ नही ? —ये भी तो कषाएँ हैं। क्या ये आत्मा को अपवित्र नही करती ?

यदि करती हैं तो फिर पच्चीसों कषायो के अभाव को शौचधर्म कहा जाना चाहिए, न कि मात्र लोभ के अभाव को।

अब आप कह सकते हैं कि भाई हमने थोड़े ही कहा है — शास्त्रों मे लिखा है, आचार्यों ने कहा है।

पर भाई साहब ! यही तो मैं कहता हूँ कि शास्त्रो मे लोभ के अभाव को शौच कहा है और लोभ के पूर्णतः अभाव होने के पहिले सभी कषायों का अभाव हो जाता है, अत· स्वत ही सिद्ध हो गया कि सभी प्रकार के कषायभावो से आत्मा अपवित्र होता है और सभी कषायो के अभाव होने पर शौचधर्म प्रकट होता है।

लोभान्त माने लोभ है अन्त में जिनके — ऐसी सभी कषाएँ। चूंकि लोभ पच्चीसों कषायो के अन्त में समाप्त होता है, अत· लोभान्त मे पच्चीसों कषाएँ आ जाती है।

यह पूर्ण शौचधर्म की बात है। अशरूप मे जितना-जितना लोभान्त-कषायो का अभाव होगा, उतना-उतना शौचधर्म प्रकट होता जावेगा।

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि जब क्रोधादि सभी कषाएँ आत्मा को अपवित्र करती हैं तो क्रोध के जाने पर भी आत्मा मे कुछ न कुछ पवित्रता प्रकट होगी ही, अतः क्रोध के अभाव को या मान के अभाव को शौचधर्म क्यो नही कहा, लोभ के अभाव को ही क्यों कहा ?

इसका भी कारण है और वह यह कि क्रोध के पूर्णत. चले जाने पर भी आत्मा मे पूर्ण पवित्रता प्रकट नही होती, क्योंकि लोभ तब भी रह सकता है। पर लोभ के पूर्णत. चले जाने पर कोई भी कषाय नही रहती है। अत. पूर्ण पवित्रता को लक्ष मे रखकर ही लोभ के अभाव को शौचधर्म कहा है। अशरूप से जितना कषायभाव कम होता है, उतनी शुचिता आत्मा मे प्रकट होती ही है।

लोभकषाय सबसे मजबूत कषाय है। यही कारण है कि वह सबसे अन्त तक रहती है। जब इसका भी अभाव हो जाता है तब शौचधर्म प्रकट होता है, अतः वह महान धर्म है।

इस महान शौचधर्म को लोगो ने नहाने-धोने तक सीमित कर दिया है। नहाना-धोना बुरा है – यह मैं नही कहता, पर उसमे वास्तविक शुचिता नही, उससे शौचधर्म नही होता। शौचधर्म का जैसा प्रकर्ष अस्नानव्रती मुनिराजो के होता है, वैसा दिन मे तीन-तीन बार नहाने वाले गृहस्थो के नही।

पूजनकार ने कहा भी है –

प्राणी सदा शुचि शील जप तप, ज्ञान ध्यान प्रभावतें।
नित गगजमुन समुद्र नहाये, अशुचि दोष सुभावतें।।
ऊपर अमल मल भर्यो भीतर, कौन विधि घट शुचि कहै।
बहु देह मैली सुगुन थैली, शौच गुन साधू लहै।।

स्वभाव से तो आत्मा परम पवित्र है ही, पर्याय मे जो मोह-राग-द्वेष की अपवित्रता है, वह नहाने-धोने से जाने वाली नही। वह आत्मज्ञान, आत्मध्यान, शील-संयम, जप-तप के प्रभाव से ही जायगी। देह तो हाड़-मास से बनी होने से स्वभावत ही अशुचि है। यह गगा-जमुना मे मल-मलकर नहाने से पवित्र होने वाली नही है। यह देह तो उस घड़े के समान है जो ऊपर से निर्मल दिखाई देता है, पर जिसके भीतर मल भरा हो। ऐसे घड़े को कितना ही मल-मलकर शुद्ध करो वह पवित्र होने वाला नही। उसीप्रकार यह शरीर है; इसकी कितनी ही सफाई करो, जब यह मैल से ही बना है तो पवित्र कैसे हो सकता है?

यद्यपि यह देह मैली है तथापि इसमें अनन्तगुणों का पिण्ड आत्मा विद्यमान है, अत. एक प्रकार से यह सुगुणो की थैली है। यही कारण है कि देह की सफाई पर ध्यान भी न देने वाले मुनिराज आत्मगुणो का विकास करके शौचधर्म को प्रकट करते हैं।

दूसरी बात यह भी तो है कि शौचधर्म आत्मा का धर्म है, शारीरिक अपवित्रता से उसको क्या लेना-देना? फिर शरीर तो मैल का ही बना है। खून, माँस, हड्डी आदि के अतिरिक्त और शरीर है ही क्या? जब ये सभी पदार्थ अपवित्र हैं तो फिर इन सबके समुदाय-रूप शरीर को पवित्र कैसे किया जा सकता है?

इसी बात को स्पष्ट करते हुए मैंने बहुत पहले लिखा था :–

यदि हड्डी अपवित्र है, तो वह तेरी नाँहि।
और खून भी अशुचि है, वह पुद्गल परछाँहि॥
तेरी शुचिता ज्ञान है, और अशुचिता राग।
राग-आग को त्याग कर, निज को निज मे पाग॥

खून, माँस और हड्डी की अपवित्रता तो देह की बात है। आत्मा की अपवित्रता तो मोह-राग-द्वेष है तथा आत्मा की पवित्रता ज्ञानानन्दस्वभाव एव सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है।

अत आत्मा को अपवित्र करने वाले मोह-राग-द्वेष को कम करने के लिए अपने को जानिये, अपने को पहचानिये, और अपने मे ही समा जाइये। 'निज को निज मे पाग' का यही आशय है।

राग-द्वेष मे पच्चीसो कषाएँ आ जाती है। इनमे लोभकषाय राग मे आती है, यह सब पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

जरा विचार तो करो! ये राग-द्वेषभाव हड्डी-खून-माँस आदि से भी अधिक अपवित्र हैं, क्योकि हड्डी-खून-माँस उपस्थित रहते हैं – फिर भी पूर्ण पवित्रता, केवलज्ञान और अनन्तसुख प्रकट हो जाते है, आत्मा अमल हो जाता है। किन्तु यदि रचमात्र भी राग रहे; चाहे वह मंद से मदतर एवं मदतम ही क्यो न हो, कितना भी शुभ क्यो न हो – तो केवलज्ञान व अनन्तसुख नही हो सकता।

आत्मा पहिले वीतरागी होता है फिर सर्वज्ञ। सर्वज्ञ होने के लिए वीतरागी होना जरूरी है, वीतदेह नही, वीतहड्डी नही, वीतखून भी नही। इससे सिद्ध है कि रागभाव हड्डी और खून से भी अधिक अपवित्र है। इस पर भी हम उसे धर्म माने बैठे हैं।

यह सुनकर लोग चौक उठते है। कहने लगते हैं कि आप कैसी बाते करते हैं – तीर्थंकर भगवान की हड्डी वज्र (वज्रवृषभनाराच सहनन) की होती है, खून बिल्कुल सफेद दूध जैसा होता है, उन्हे आप अपवित्र कहते है? पर भाई साहब! आप यह क्यो भूल जाते हैं कि खून तो खून ही है, वह चाहे सफेद हो या लाल। इसीप्रकार हड्डी तो हड्डी ही है, वह चाहे कमजोर हो या मजबूत।

मूल बात यह है कि खून और हड्डी चाहे पवित्र हो या अपवित्र, उनका आत्मा की पवित्रता से कोई सम्बन्ध नही है। खून और

हड्डियाँ एक-सी होने पर भी अव्रती-मिथ्यादृष्टि अपवित्र हैं और सम्यग्दृष्टि व्रती-महाव्रती पवित्र है ।

इससे यह सहज सिद्ध है कि आत्मा की पवित्रता वीतरागता मे है और अपवित्रता मोह-राग-द्वेष में; खून-माँस-हड्डी का उससे कोई सम्बन्ध नही ।

वादिराज मुनिराज के शरीर मे कोढ हो गया था, फिर भी वे परम पवित्र थे, शौचधर्म के धनी थे । गृहस्थावस्था मे सनतकुमार चक्रवर्ती की जब कचन जैसी काया थी, जिनके सौन्दर्य की चर्चा इन्द्रसभा में भी चलती थी, जिसे सुनकर देवगण उनके दर्शनार्थ आते थे, तब तो उनके उस स्तर का शौचधर्म नही था, जिस स्तर का मुनि अवस्था में था । जबकि मुनि अवस्था मे उनके शरीर में कोढ हो गया था, जो सातसौ वर्ष तक रहा । उस कोढी दशा में भी उनके तीन कषाय के अभावरूप शौचधर्म मौजूद था ।

जरा विचार तो करो कि शौचधर्म क्या है ? इसे शरीर की शुद्धि तक सीमित करना तत्सम्बन्धी अज्ञान ही है ।

व्यवहार से उसे भी कही-कही शौचधर्म कह दिया जाता है, पर वस्तुत. लोभान्त-कषायो का अभाव ही शौचधर्म है । दूसरे शब्दो मे वीतरागता ही वास्तविक शौचधर्म है ।

पूर्ण वीतरागता और केवलज्ञान प्रतिदिन नहाने वालो को नही, जीवन भर नही नहाने की प्रतिज्ञा करने वालों को प्राप्त होते है ।

लोग कहते हैं – हड्डी आदि अपवित्र पदार्थों के छू जाने पर तो नहाना ही पडता है ?

हाँ ! हाँ !! नहाना पडता है, पर किसे ? हड्डियो को ही न ? आत्मा तो अस्पर्शस्वभावी है, उसे तो पानी छू भी नही सकता है । हड्डियाँ ही नहाती हैं ।

यदि ऐसी बात है तो फिर मुनिराज नहाने का त्याग क्यो करते हैं ?

मुनिराज नहाने का नही, नहाने के राग का त्याग करते है । और जब नहाने का राग ही उन्हे नही रहा, तो फिर नहाना कैसे हो सकता है ?

कैसी विचित्र बात है कि इस हड्डियो के शरीर को हड्डी छू जाने से नहाना पडता है। हम सब मुँह से रोटी खाते हैं, दाँतों से उसे चबाते हैं। दाँत क्या हैं ? हड्डियाँ ही तो हैं। जब तक दाँत मुँह में हैं – छूत हैं, अपने स्थान से हटते ही अछूत हो जाते हैं। इस पर लोग कहते हैं – यह जीवित हड्डी और वह मरी हड्डी। उनकी दृष्टि में हड्डियाँ भी जीवित और मरी – दो प्रकार की होती हैं।

जो कुछ भी हो, ये सब बातें व्यवहार की हैं। संसार मे व्यवहार चलता ही है। और जब तक हम संसार मे हैं तब तक हम सब व्यवहार निभाते ही हैं, निभाना भी चाहिये। पर मुक्तिमार्ग में उसका कोई स्थान नही है।

यही कारण है कि मुक्ति के पथिक मुनिराज इन व्यवहारों से अतीत होते हैं, वे व्यवहारातीत होते हैं।

अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान – इन तीन कषायो के अभावरूप वास्तविक शौचधर्म – निश्चयारूढ-व्यवहारातीत मुनिराजों के ही होता है, क्योंकि उन्होने परमपवित्र ज्ञानानंदस्वभावी निजात्मा का अतिउग्र आश्रय लिया है। वे आत्मा मे ही जम गये हैं, उसी मे रम गये है।

अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यान इन दो कषायो के अभाव में एवं मात्र अनन्तानुबंधी के अभाव मे होने वाला शौचधर्म क्रमश देशव्रती व अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावको के होता है। सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावकों के होने वाला शौचधर्म यद्यपि वास्तविक ही है; तथापि उसमे वैसी निर्मलता नहीं हो पाती जैसी मुनिदशा मे होती है। पूर्णतः शौचधर्म तो वीतरागी सर्वज्ञो के ही होता है।

स्वभाव से तो सभी आत्माएँ परमपवित्र ही है, विकृति मात्र पर्याय मे है। पर जब पर्याय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेती है, तो वह भी पवित्र हो जाती है। पर्याय के पवित्र होने का एकमात्र उपाय परमपवित्र आत्मस्वभाव का आश्रय लेना है। ‘पर’ के आश्रय से पर्याय में अपवित्रता और ‘स्व’ के आश्रय से पवित्रता प्रकट होती है।

समयसार गाथा ७२ की टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र आत्मा को अत्यन्त पवित्र एवं मोह-राग-द्वेषरूप आस्रवभावो को अपवित्र बताते हैं। उन्होंने आस्रवतत्त्व को अशुचि लिखा है, जीवतत्त्व और अजीव

तत्त्व को नही। आत्मा जीव है, शरीर अजीव है – दोनो ही अपवित्र नही, अपवित्र तो आस्रव है, जो लोभादि कपायोरूप है।

स्वभाव की शुचिता मे ऐसी सामर्थ्य है कि उस पर जो पर्याय झुके, उसको जो पर्याय छुए, वह उसे पवित्र बना देती है। पवित्र कहते ही उसे हैं जिसको छूने से छूने वाला पवित्र हो जाय। वह कैसा पवित्र, जो दूसरो के छूने से अपवित्र हो जाय ? पारस तो उसे कहते है, जिसके छूने पर लोहा सोना हो जाय। जिसके छूने से सोना लोहा हो जावे, वह थोडे ही पारस कहा जायगा। इसीप्रकार जो अपवित्र पर्याय के छूने से अपवित्र हो जाय वह स्वभाव कैसा ? स्वभाव तो उसका नाम है जिसके आश्रय से पर्याय भी पवित्र हो जावे।

पवित्र स्वभाव को छूकर जो पर्याय स्वय पवित्र हो जाय, उस पर्याय का नाम ही शौचधर्म है।

आत्मस्वभाव के स्पर्श बिना अर्थात् आत्मा के अनुभव बिना शौचधर्म का आरम्भ भी नही होता। शौचधर्म का ही क्या, सभी धर्मो का आरम्भ आत्मानुभूति से ही होता है। आत्मानुभूति उत्तम क्षमादि सभी धर्मो की जननी है।

अत जिन्हे पर्याय मे पवित्रता प्रकट करनी हो अर्थात् जिन्हें शौचधर्म प्राप्त करना हो, वे आत्मानुभूति प्राप्त करने का यत्न करें आत्मोन्मुख हों।

सभी आत्माएँ आत्मोन्मुख होकर अपनी पर्याय मे परमपवित्र शौचधर्म को प्राप्त करे, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।



उत्तमसत्य

सत्यधर्म की चर्चा जब भी चलती है, तब-तब प्राय· सत्यवचन को ही सत्यधर्म समझ लिया जाता है। सत्यधर्म के नाम पर सत्य-वचन के ही गीत गाये जाने लगते हैं।

कहा जाता है कि सत्य बोलना चाहिए, झूठ कभी नही बोलना चाहिए; झूठे का कोई विश्वास नही करता। दुकानदारी में भी जिसकी एक बार सत्यता की धाक जम गई सो जम गई, फिर चाहे दुगने पैसे भी क्यों न ले, कोई नही पूछता।

जरा विचार तो करो कि यह सत्यवचन बोलनेका उपदेश है या सत्य की ओट में लूटने का। मेरे कहने का प्रयोजन यह है कि हम सत्यवचन का भी सही प्रयोजन नही समझते हैं तो फिर सत्यधर्म की बात तो बहुत दूर है।

सामान्यजन तो सत्यवचन को सत्यधर्म समझते ही है, किन्तु आश्चर्य तो तब होता है कि जब सत्यधर्म पर वर्षों से व्याख्यान करने वाले विद्वज्जन भी सत्यवचन से आगे नही बढ़ते हैं।

यद्यपि सत्यवचन को भी जिनागम में व्यवहार से सत्यधर्म कह दिया गया है और उस पर विस्तृत प्रकाश भी डाला है, उसका भी अपना महत्त्व है, उपयोगिता है; तथापि जब गहराई मे जाकर निश्चय से विचार करते हैं तो सत्यवचन और सत्यधर्म में महान अन्तर दिखाई देता है। सत्यधर्म और सत्यवचन बिल्कुल भिन्न-भिन्न दो चीजें प्रतीत होती हैं।

ध्यान रहे यहाँ पर जिनागम मे वर्णित उत्तमक्षमा, उत्तममार्दव, उत्तमआर्जव, उत्तमशौच, उत्तमसत्य आदि दशधर्मों मे जो उत्तमसत्य-धर्म कहा गया है – उसकी चर्चा अपेक्षित है। यहाँ सत्यधर्म का समस्त विश्लेषण उक्त प्रसंग मे ही किया जा रहा है।

गाँधीजी ने भी सत्य को वचन की सीमा से ऊपर स्वीकार किया है। वे सत्य को ईश्वर के रूप में देखते हैं (Truth is God)।

जहाँ सत्य की खोज, सत्य की उपासना की बात चलती है, वहाँ निश्चितरूप से सत्यवचन की खोज अपेक्षित नही होती वरन् कोई

ऐसा महत्त्वपूर्ण अव्यक्त सत्य अपेक्षित होता है जो उपास्य हो, आश्रय के योग्य हो। दार्शनिकों और आध्यात्मिको का उपास्य, आश्रयदाता सत्य मात्रवचनरूप नही हो सकता। जिसके आश्रय से धर्म प्रकट हो, जो अनन्त सुख-शान्ति का आश्रय बन सके, ऐसा सत्य कोई महान चेतनतत्त्व ही हो सकता है, उसे वाग्विलास तक सीमित नही किया जा सकता। उसे वचनों तक सीमित करना स्वयं ही सबसे बड़ा असत्य है।

आचार्यों ने वाणी की सत्यता और वाणी के संयम पर भी विचार किया है, पर उसे सत्यधर्म से अलग ही रखा है। वाणी की सत्यता और वाणी के सयम को जीवन मे उतारने के लिए उन्होने उसे चार स्थानों पर बाधा है – (१) सत्याणुव्रत, (२) सत्यमहाव्रत, (३) भाषासमिति और (४) वचनगुप्ति।

मुख्यरूप से स्थूल झूठ नही बोलना सत्याणुव्रत है। सूक्ष्म भी झूठ नही बोलना, सदा सत्य ही बोलना सत्यमहाव्रत है। सत्य भी कठोर, अप्रिय, असीमित न बोलकर, हित-मित एवं प्रियवचन बोलना भाषासमिति है; और बोलना ही नही, वचनगुप्ति है।

इसप्रकार हम देखते है कि जिनागम मे वचन को सत्य एवं सयमित रखने के लिए उसे चार स्थानो पर प्रतिबधित किया है। तात्पर्य यह है कि यदि बिना बोले चल जावे तो बोलो ही मत, न चले तो हित-मित-प्रिय वचन बोलो और वह भी पूर्णत. सत्य, यदि सूक्ष्म असत्य से न बच सको तो स्थूल असत्य तो कभी न बोलो।

यहाँ वचन को अस्ति (पॉज़िटिव) और नास्ति (निगेटिव) दोनों ओर से पकड लिया है। सत्याणुव्रत, सत्यमहाव्रत और भाषा-समिति में क्या बोले और कैसे बोले के रूपमे अस्ति (पॉज़िटिव) को तथा वचनगुप्ति मे बोले ही नही (मौन) के रूपमें नास्ति (निगेटिव) को ले लिया है। इस तरह यहाँ बोलना और नही बोलना वाणी के दोनों ही पहलुओं को ले लिया गया है।

वाणी को इतना सयमित कर देने के बाद अब क्या शेष रह जाता है कि जिस कारण सत्यधर्म को भी आप भाषा की सीमा मे बांधना चाहते हैं ?

सत्यधर्म को वचन तक सीमित कर देने से एक बड़ा नुकसान यह हुआ कि उसकी खोज ही रुो गई ! जिसकी खोज जारी हो

उसका मिलना सम्भव है, पर जिसकी खोज ही खो गई हो वह कैसे मिले ? जब तक सत्य को समझते नहीं, खोज चालू रहती है । किन्तु जब किसी गलत चीज को सत्य मान लिया जाता है तो उसकी खोज भी बन्द कर दी जाती है । जब खोज ही बन्द कर दी जावे तो फिर मिलने का प्रश्न ही कहाँ रह जाता है ?

हत्यारे की खोज तभी तक होती है जब तक कि हत्या के अपराध मे किसी को पकड़ा नही जाता । जिसने हत्या नही की हो, यदि उसे हत्या के अपराध मे पकड लिया जाय, सजा दे दी जाय, तो असली हत्यारा कभी नही पकडा जायगा । क्योंकि अब तो फाइल ही बन्द हो गई, अब तो जगत की दृष्टि में हत्यारा मिल ही गया, उसे सजा भी मिल गई । अब खोज का क्या काम ? जब खोज बन्द हो गई तो असली हत्यारे का मिलना भी असम्भव है ।

इसीप्रकार जब सत्यवचन को सत्यधर्म मान लिया गया तो फिर असली सत्यधर्म की खोज का प्रश्न ही कहाँ रहा ? सत्यवचन को सत्यधर्म मान लेने से सबसे बड़ी हानि यह हुई कि सत्यधर्म की खोज खो गई ।

सत्यधर्म क्या है ? यह नही जानने वाले जिज्ञासु कभी न कभी सत्यधर्म को पा लेंगे, क्योकि उनकी खोज चालू है; पर सत्यवचन को ही सत्यधर्म मानकर बैठ जाने वालो को सत्य पाना सम्भव नही ।

अणुव्रत गृहस्थो के होते हैं, मुनियो के नही । महाव्रत मुनियो के होते हैं, गृहस्थो के नही । इसीप्रकार भाषासमिति और वचनगुप्ति मुनियों के होती है, गृहस्थों के नही । अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति और समिति गृहस्थों और मुनियो के होते हैं; सिद्धों के नही, अविरत सम्यग्दृष्टियो के भी नही । जबकि उत्तमक्षमादि दशधर्म अपनी-अपनी भूमिकानुसार अविरत सम्यग्दृष्टियो से लेकर सिद्धो तक पाये जाते है ।

वाणी पुद्गल की पर्याय है और सत्य है आत्मा का धर्म । आत्मा का धर्म आत्मा में रहता है, शरीर और वाणी में नही । जो आत्मा के धर्म हैं, उनका सम्पूर्ण-धर्मो के धनी सिद्धो में होना अनिवार्य है । उत्तमक्षमादि दशधर्म जिनमे सत्यधर्म भी शामिल है, सिद्धो मे विद्यमान है, पर उनमें सत्यवचन नही है । अतः सिद्ध होता है कि निश्चय से सत्यवचन सत्यधर्म नही है ।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि क्या अणुव्रत, महाव्रत धर्म नही ? क्या समिति, गुप्ति भी धर्म नहीं ?

अणुव्रत और महाव्रतो को आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में आस्रवाधिकार में लिया है। यद्यपि उन्हें कही-कही उपचार से धर्म कहा है, पर जो आस्रव हो, बंध के कारण हो; उन्हें निश्चय से धर्म संज्ञा कैसे हो सकती है ?

गुप्ति, समिति भी उत्तमसत्यधर्म नही हैं। तात्पर्य यह है कि जिस उत्तमसत्यधर्म की चर्चा यहाँ चल रही है; गुप्ति, समिति वह धर्म नही है।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि गुप्ति, समिति आदि के अतिरिक्त पृथक्रूप मे दशधर्मों की चर्चा आचार्यों ने की है। यदि सभी को धर्म ही कहना है तो इनको अलग से धर्म कहने का क्या प्रयोजन? जिस अपेक्षा से इन्हे पृथक् से धर्म कहा है उसी अपेक्षा से मैं कहना चाहूँगा कि वे सब इन दशधर्मों मे से कोई धर्म नही हैं। अथवा जिसकी चर्चा चल रही है वह 'सत्यधर्म' वे नही हैं। अधिक स्पष्ट कहूँ तो निश्चय से वचन का सत्यधर्म से कोई वास्ता नही है। क्योकि अणुव्रतियो और महाव्रतियो का सत्य बोलना सत्याणुव्रत और सत्यमहाव्रत मे जायगा, हित-मित-प्रिय बोलना भाषासमिति मे तथा नही बोलना वचनगुप्ति मे समाहित हो जायगा। अब वचन की ऐसी कोई स्थिति शेष नही रहती जिसे सत्यधर्म मे डाला जावे।

यदि सत्य बोलने को सत्यधर्म मानें तो सिद्धो के सत्यधर्म नही रहेगा, क्योकि वे सत्य नही बोलते। वे बोलते ही नही तो फिर सत्य और झूठ का प्रश्न ही कहाँ उठता है? क्या सत्यधर्म के धारी को बोलना जरूरी है? क्या जीवनभर मौन रहने वाला सत्यधर्म का धारी नही हो सकता ?

इससे बचने के लिए यदि यह कहा जाय कि वे सत्य तो नही बोलते, पर झूठ भी तो नही बोलते; अत: उनके सत्यधर्म है। तो फिर सत्य बोलना सत्यधर्म नही रहा, बल्कि झूठ नही बोलना सत्यधर्म हुआ। पर यह बात भी तर्क की तुला पर सही नही उतरती। क्योकि यदि झूठ नही बोलने को सत्यधर्म माने तो फिर वचन-व्यवहार से रहित एकेन्द्रियादि जीवो को सत्यधर्म का धारी मानना होगा, क्योकि वे भी कभी झूठ नही बोलते। जब वे बोलते ही नही तो फिर झूठ बोलने का प्रश्न ही कहाँ उठता है? इसप्रकार हम देखते हैं कि न तो सत्य बोलना ही सत्यधर्म है और न झूठ नही बोलना ही।

सीधी-सी बात यह है कि जिस सत्यधर्म की चर्चा यहाँ चल रही है, वह न सत्य बोलने मे है, न हित-मित-प्रिय बोलने में; वह बोलने के निषेधरूप मौन में भी नही। क्योकि ये सब वाणी के धर्म हैं और विवक्षित सत्यधर्म आत्मा का धर्म है।

जो वास्तविक धर्म हैं, वे पूर्णतः प्रकट हो जाने के बाद समाप्त नही होते। उत्तमक्षमादिधर्म सिद्धावस्था मे भी रहते है, पर अणुव्रत-महाव्रत एक अवस्थाविशेष मे ही रहते है। वे उस अवस्था के धर्म हो सकते हैं, आत्मा के नही। गृहस्थ अणुव्रत ग्रहण करता है, किन्तु जब वही गृहस्थ मुनिधर्म अगीकार करता है तो महाव्रत ग्रहण करता है, अणुव्रत छूट जाते हैं। जो छूट जावे वह धर्म कैसा ?

अणुव्रत, महाव्रत, गुप्ति, समिति – ये सब पडाव है, गन्तव्य नही, प्राप्तव्य नही, अन्तिम लक्ष्य नही; अन्तिम लक्ष्य सिद्ध अवस्था है। उसमे भी रहने वाले उत्तमक्षमादिधर्म जीव के वास्तविक धर्म हैं।

अब हमे उस सत्यधर्म को समझना है जो एकेन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक चतुर्गति के सभी मिथ्यादृष्टि जीवों मे नही पाया जाता एवम् सम्यग्दृष्टि से लेकर सिद्धो तक सभी सम्यग्दृष्टि जीवों मे अपनी-अपनी भूमिकानुसार पाया जाता है।

द्रव्य का लक्षण सत् है। आत्मा भी एक द्रव्य है, अतः वह सत्स्वभावी है। सत्स्वभावी आत्मा के आश्रय से आत्मा में जो शान्ति-स्वरूप वीतराग परिणति उत्पन्न होती है, उसे निश्चय से सत्यधर्म कहते हैं। सत्य के साथ लगा 'उत्तम' शब्द मिथ्यात्व के अभाव और सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। मिथ्यात्व के अभाव बिना तो सत्यधर्म की प्राप्ति ही सम्भव नही है।

जब तक यह आत्मा वस्तु का – विशेषकर आत्मवस्तु का, सत्य स्वरूप नही समझेगा, तब तक सत्यधर्म की उत्पत्ति ही सम्भव नही है। जिसकी उत्पत्ति ही न हुई हो उसकी वृद्धि और सम्वृद्धि का प्रश्न ही नही उठता। आत्मवस्तु की सच्ची समझ आत्मानुभव के बिना सम्भव नही है। मिथ्यात्व के अभाव और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए प्रयोजनभूत अनात्म वस्तुओ का तो मात्र सत्यज्ञान ही अपेक्षित है, किन्तु आत्मवस्तु के ज्ञान के साथ-साथ अनुभूति भी आवश्यक है। अनुभूति के बिना सम्यक् आत्मज्ञान सम्भव नही है।

उत्तमसत्य अर्थात् सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित वीतराग-भाव । सत्य बोलना तो निश्चय से सत्यधर्म है ही नही, पर मात्र सत्य जानना, सत्य मानना भी वास्तविक सत्यधर्म नही है; क्योकि मात्र जानना और मानना क्रमश. ज्ञान और श्रद्धा गुण की पर्याये है, जबकि सत्यधर्म चारित्र गुण की पर्याय है, चारित्र की दशा है। उत्तमक्षमादि दशधर्म चारित्ररूप हैं – यह बात दशधर्मो की सामान्य चर्चा मे अच्छी तरह स्पष्ट की जा चुकी है ।

अत. सत्यवाणी की बात तो दूर, मात्र सच्ची श्रद्धा और सच्ची समझ भी सत्यधर्म नही, किन्तु सच्ची श्रद्धा और सच्ची समझपूर्वक उत्पन्न हुई वीतराग परिणति ही निश्चय से उत्तमसत्यधर्म है ।

नियम नाम चारित्र का है। नियम की व्याख्या करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द नियमसार मे लिखते है –

सुहअसुहवयणरयण रायादीभाववारण किच्चा ।
अप्पाण जो भायदि तस्स दु णियम हवे णियमा ।।१२०।।

शुभाशुभ वचन-रचना का और रागादि भावो का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे नियम से (निश्चितरूप से) नियम होता है ।

यहाँ भी चारित्ररूप धर्म को वाणी (शुभाशुभ वचन-रचना) और रागादि भावो के अभावरूप कहा है। सत्यधर्म भी चारित्र का एक भेद है। अत वह भी वाणी और रागादि भावो के अभावरूप होना चाहिए ।

सत् अर्थात् जिसकी सत्ता है। जिस पदार्थ की जिस रूप मे सत्ता है उसे वैसा ही जानना सत्यज्ञान है, वैसा ही मानना सत्यश्रद्धान है, वैसा ही बोलना सत्यवचन है, और आत्मस्वरूप के सत्यज्ञान-श्रद्धानपूर्वक वीतराग भाव की उत्पत्ति होना सत्यधर्म है ।

असत् की सत्ता तो सापेक्ष है। जीव का अजीव मे अभाव, अजीव का जीव मे अभाव – अर्थात् जीव की अपेक्षा अजीव असत् और अजीव की अपेक्षा जीव असत् है । क्योकि प्रत्येक पदार्थ स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत् और परचतुष्टय की अपेक्षा असत् है ।

वस्तुत लोक मे जो कुछ भी है वह सब सत् है, असत् कुछ भी नही है। किन्तु लोगो का कहना है कि हम तो जगत मे असत्य का ही साम्राज्य दिखाई देता है सत्य कही नजर ही नही आता। पर भाई!

यह तेरी दृष्टि की खराबी है, वस्तुस्वरूप की नही। सत्य कहते ही उसे हैं जिसकी लोक में सत्ता हो।

जरा विचार करें कि सत्य क्या है और असत्य क्या है ?

'यह घट है' – इसमे तीन प्रकार की सत्ता है। 'घट' नामक पदार्थ की सत्ता है। 'घट' को जानने वाले ज्ञान की सत्ता है और 'घट' शब्द की भी सत्ता है। इसीप्रकार 'पट' नामक पदार्थ, उसको जानने वाले ज्ञान एव 'पट' शब्द की भी सत्ता जगत मे है। जिनकी सत्ता है वे सभी सत्य हैं। इन तीनो का सुमेल हो तो ज्ञान भी सत्य, वाणी भी सत्य, और वस्तु तो सत्य है ही। किन्तु जब वस्तु, ज्ञान और वाणी का सुमेल न हो – मुंह से बोले तो 'पट' और इशारा करे 'घट' की ओर – तो वाणी असत्य हो जायेगी। इसीप्रकार सामने तो हो 'घट' और हम उसे जाने 'पट' – तो ज्ञान असत्य (मिथ्या) हो जाएगा, वस्तु तो असत्य होने से रही। वह तो कभी असत्य हो ही नही सकती। वह तो सदा ही स्व-रूप से है, और पर-रूप से नही है।

अत सिद्ध हुआ कि असत्य वस्तु मे नही; उसे जानने वाले ज्ञान मे, मानने वाली श्रद्धा मे, या कहने वाली वाणी मे होता है। अतः मैं तो कहता हूँ कि अज्ञानियो के ज्ञान, श्रद्धान और वाणी के अतिरिक्त लोक मे असत्य की सत्ता ही नही है, सर्वत्र सत्य का ही साम्राज्य है।

वस्तुत जगत पीला नही है, किन्तु हमे पीलिया हो गया है; अत जगत पीला दिखाई देता है। इसीप्रकार जगत मे तो असत्य की सत्ता ही नही है; पर असत्य हमारी दृष्टि मे ऐसा समा गया है कि वह जगत मे दिखाई देता है।

सुधार भी जगत का नही, अपनी दृष्टि का, अपने ज्ञान का करना है। सत्य का उत्पादन नही करना है, सत्य तो है ही; जो जैसा है वही सत्य है। उसे सही जानना है, मानना है। सही जानना-मानना ही सत्य प्राप्त करना है। और आत्म-सत्य को प्राप्त कर राग-द्वेष का अभाव कर वीतरागतारूप परिणति होना सत्यधर्म है।

यदि मैं पट को पट कहूँ तो सत्य है, किन्तु पट को घट कहूँ तो झूठ है। मेरे कहने से पट, घट तो हो नहीं जाएगा, वह तो पट ही रहेगा। वस्तु मे झूठ ने कहाँ प्रवेश किया ? झूठ का प्रवेश तो वाणी मे हुआ। इसीप्रकार यदि पट को घट जाने तो ज्ञान झूठा हुआ, वस्तु तो नही। मैंने पट को घट जाना, माना या कहा – इसमे पट

का क्या अपराध है ? गलती तो मेरे ज्ञान या वाणी में हुई है। गलती सदा ज्ञान या वाणी में ही होती है, वस्तु में नही।

गलती जहाँ हो वहाँ मेटनी चाहिए। जहाँ हो ही नही, वहाँ मिटाने के व्यर्थ प्रयत्न से क्या लाभ ? दाग चेहरे पर है और दिखाई दर्पण मे देता है। कोई दर्पण को साफ करे तो दाग नही मिटेगा, परन्तु दर्पण के साफ हो जाने से और अधिक स्पष्ट हो जाएगा। दाग मिटाने के लिए चेहरे को धोना चाहिए।

फोटोग्राफर के पास जाकर लोग कहते हैं मेरा वढिया फोटो खीच दीजिए। पर भाई साहव ! फोटो तो आपकी जैसी सूरत होगी वैसा आएगा, वढिया कहाँ से आ जाएगा ? आपको अपना फोटो खिचाना है – कि वढिया ? आपका खिचेगा तो वढ़िया न होगा, और फोटो वढिया होगा तो फिर वह आपका नही होगा। क्योंकि यदि आपकी सूरत ही वढिया न हो तो फोटो वढिया कैसे आएगा ?

वस्तुत. तो जैसा है वैसे का नाम वढिया है, पर दुनियाँ कहाँ मानती है ? किसी के एक आंख है-और फोटो में दोनो आ जाएं तो फोटो वढ़िया हो जाएगा ? वढिया भले कहा जाय पर वह वास्तविक न होगा। हम तो वास्तविक को ही वढ़िया कहते हैं।

वस्तु जैसी है वैसी जानने का नाम सत्य है; अच्छी-बुरी जानने का नाम सत्य नही। वस्तु मे अच्छे-बुरे का भेद करना राग-द्वेष का कार्य है। ज्ञान का कार्य तो वस्तु जैसी है वैसी जानना है।

हम किसी वस्तु को कही सुरक्षित रखकर भूल जाते है और कहते हैं कि अमुक वस्तु खो गई है। पर वस्तु खोई है या उसका ज्ञान खोया है। वस्तु तो जहाँ रखी थी वहाँ अभी भी रखी है। वस्तु को नही, उसके ज्ञान को खोजना है।

असत्य या तो वाणी में होता है या ज्ञान मे; वस्तु मे नहीं। वस्तु में असत्य की सत्ता ही नही है। वस्तु को अपने ज्ञान और वाणी के अनुरूप नही वनाया जा सकता और वनाने की आवश्यकता भी नही है। आवश्यकता अपने ज्ञान और वाणी को वस्तुस्वरूप के अनुरूप वनाने की है। जव ज्ञान और वाणी वस्तु के अनुरूप होंगे तव वे सत्य होंगे। जव आत्मा सत्स्वभावी-आत्मा के आश्रय से वीतराग परिणति प्राप्त करेगा तव सत्यधर्म का धनी होगा। जितने अंश में प्राप्त करेगा उतने अंश मे सत्यधर्म का धनी होगा।

वाणी की सत्यता के लिए वाणी को वस्तुस्वरूप के अनुकूल ढालना होगा। सत्य बोलने के लिए सत्य जानना जरूरी है। सत्य को जाने विना सत्य कैसे बोला जा सकता है ?

वहुत से लोग कहते है इसमे क्या है ? जैसा देखा, जाना, सुना – वैसा ही कह दिया सो सत्य है। इसी आधार पर वे कहते हैं कि सत्य बोलना सरल है और झूठ बोलना कठिन। क्योकि उनके अनुसार सत्य बोलने मे क्या है – जैसा देखा, जाना, सुना वैसा ही कह दिया; पर झूठ बोलने के लिए योजना वनानी पड़ती है, घर मे सब लोगो को ट्रेन्ड करना पड़ता है कि कही झूठ खुल न जाए। एक झूठ के पीछे हजार झूठ बोलने पडते हैं, फिर भी उसके खुलजाने की शका बनी ही रहती है।

जैसे – किसी ने दरवाजा खटखटाया या फोन की घटी बजी। दरवाजा खोलते ही या फोन का रिसीवर उठाते ही सामने वाले ने पूछा – अमुक व्यक्ति है ? यदि सत्य कहना है तो तत्काल कह दिया 'है' अथवा 'नही'। पर यदि झूठ कहना है तो 'देखता हूँ, आप कौन है ? क्या काम है ?' आदि लम्बी प्रश्न-सूची उसके सामने खड़ी करनी होगी और अदर पूछकर उत्तर दिया जायगा। यदि बालक या चपरासी झूठ बोलने में कुशल न हुआ तो यह भी कह सकता है कि पिताजी कहते है या साहब कहते हैं कि कह दो घर पर नही हैं। यदि उसने ठीक-ठीक कह भी दिया कि 'नही है', फिर भी किसी दूसरे के द्वारा कभी पर्दाफाश भी हो सकता है। अत. उनके अनुसार सत्य बोलना आसान है और झूठ बोलना कठिन।

पर मेरा कहना है कि यह सारी कवायद झूठ बोलने के लिए नही, झूठ छिपाने के लिए करनी पडती है, झूठ को सत्य का लवादा पहनाने के लिए करनी पड़ती है। झूठ बोलने मे क्या है ? विना सोचे-समझे चाहे जो बोलते जाइए, वह गारंटी से झूठ तो होगा ही। कोई पूछे – दिल्ली मे कितने कौए है ? सत्य बोलने वाले को सोचना पड़ेगा। हो सकता है कि वह उत्तर दे ही न पाए या यह कहना पडेगा कि मुझे नही मालूम। पर झूठ बोलने वाले को क्या ? कुछ भी सख्या बता दे। विना गिने जो भी संख्या बताएगा वह झूठ तो गारटी से होगी ही।

मैं ही आप लोगो से पूछता हूँ कि आजकल सूर्य कितने बजे उगता है ? बताइये, आप चुप क्यों हो गए ? इसलिए कि आप झूठ बोलना नही चाहते और सत्य का पता नही है। झूठ ही बोलना

है तो कुछ भी कह दीजिएगा। किन्तु सत्य बोलने के लिए बहुत बडी जिम्मेदारी होती है, अतः बिना सोचे-समझे सत्य नही बोला जा सकता। सत्य बोलने के पहले सत्य जानना बहुत जरूरी है।

यह बात प्रयोजनभूत तत्त्वो के सबंध मे और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है। लौकिक वस्तुओं के बारे मे बोला गया झूठ भी यद्यपि पापबध का कारण है; तथापि प्रयोजनभूत तत्त्वों के विषय मे बोला गया झूठ तो महान पाप है, अनंत संसार का कारण है, अपना और पर का बडा भारी अहित करने वाला है।

अत यदि वस्तुतत्त्व की सही जानकारी नही है तो अनापशनाप बोलने से नही बोलना – चुप रहना हितकर है।

मुक्ति के मार्ग मे सत्य बोलना अनिवार्य नही, किन्तु सत्य जानना, सत्य मानना, और आत्म-सत्य के आश्रय से उत्पन्न वीतरागपरिणति-रूप सत्यधर्म प्राप्त करना जरूरी है। क्योंकि बिना बोले मोक्ष हो सकता है, पर बिना जाने, माने और तद्रूप परिणमित हुए बिना नही। सत्य जानने पर जीवन भर भी न बोले तो कोई अतर न पडेगा, पर जाने बिना नही चलेगा।

अग्नि को कोई गर्म न कहे तब भी वह गर्म रहेगी। उसे गर्म रहने के लिए यह आवश्यक नही कि उसे कोई गर्म कहे ही। इसी प्रकार उसे कोई गर्म न जाने तब भी वह गर्म रहेगी। उसीप्रकार वस्तु का सत्यस्वरूप भी वाणी की अपेक्षा नही रखता और न वह ज्ञान की ही अपेक्षा रखता है। वह तो सदा सत्य ही है। उसे उसी रूप मे जानने वाला ज्ञान सत्य है, मानने वाली श्रद्धा सत्य है, कहने वाली वाणी सत्य है, और तदनुकूल आचरण करने वाला आचरण भी सत्य है। हम मूलसत्य को ही भूल गए है, तो उसके आश्रय से होने वाले ज्ञान, श्रद्धान, चारित्र एव वाणी के सत्य हमारे जीवन मे कैसे प्रकट हो ?

अन्तर मे विद्यमान ज्ञानानन्दस्वभावी त्रैकालिक ध्रुव आत्मतत्त्व ही परम सत्य है। उसके आश्रय से उत्पन्न हुआ ज्ञान, श्रद्धान, एव वीतराग परिणति ही उत्तमसत्यधर्म है।

आज का युग समझौतावादी युग है। अति उत्साह में कुछ लोग वस्तुतत्त्व के सम्बन्ध मे भी समझौते की बात करते हैं। किन्तु वस्तु के सत्यस्वरूप को समझने की आवश्यकता है, समझौते की नही। वस्तु के स्वरूप मे समझौते की गुंजाइश भी कहाँ है और उसके

सम्बन्ध में समझौता करने वाले हम होते भी कौन है ? समझौते में दोनो पक्षो को झुकना पडता है। समझौते का आधार सत्य नही, शक्ति होती है। समझौते मे सत्यवादी की वात नही, शक्तिशाली की वात मानी जाती है।

अग्नि कैसी है—ठडी या गर्म ? यह वात जानने की तो हो सकती है, पर इसमे समझौते की क्या वात है ? यदि कोई कहे कि अग्नि ठडी है और कोई कहे गर्म है, इसमे क्या समझौता हो सकता है ? पचास प्रतिशत ठडी और पचास प्रतिशत गर्म मानी जाए क्या ? यदि न माने तो समझौता नही होगा, मानले तो सत्य नही रहता।

वस्तु के सत्यस्वरूप को आपका समझौता स्वीकार भी कहाँ है ? यदि आपने सर्वसम्मति से भी अग्नि को ठडा मान लिया तो क्या अग्नि ठडी हो जाएगी ? नही, कदापि नही। अग्नि तो जैसी है वैसी ही रहेगी।

अग्नि कैसी है ? इसके वारे मे पचायत वैठाने के वजाय छूकर देखना सही रास्ता है। उसीप्रकार सत्य वस्तुतत्त्व के बारे मे पचायते वैठाने के वजाय आत्मानुभव करना सही मार्ग है।

वस्तु के स्वरूप की सत्य समझ का नाम धर्म है। सत्य को समझौते की नही, समझने की आवश्यकता है। सत्य और शान्ति समझ से मिलती है, समझौते से नही।

इस चमत्कारप्रिय जगत मे सत्य की आवश्यकता भी किसे है ? उसे प्राप्त करने की एकमात्र तमन्ना किसे है, तडप किसे है ? उसकी कीमत भी कौन करता है ? यहाँ तो चमत्कार को नमस्कार है।

एक साधारण-सा जादूगर चौराहे पर खड़ा होकर लोगो को झूठा आम वताकर सैकडो रुपये वटोर लेता है, जवकि एक कृषक को सच्चे आम के पचास पैसे प्राप्त करना कठिन होता है। वास्तविक आम खरीदते समय लोग हजार मीन-मेख निकालते है।

जादूगर तो मात्र आम दिखाता है, देता नही, पर कृषक देता भी है। जादूगर के पास आम है ही नही, वह दे भी कहाँ से ? वह तो धोखा देता है, हाथ की सफाई वताता है, हमारी नजर वद करता है। पर इस जगत मे धोखा देने वाला आदर पाता है, धन पाता है। हमे उसकी महिमा आती है, जो हमारी नजर वन्द करता है; उसकी नही जो खोलता है। लोग कहते है क्या गजव किया, आम था ही

नहीं और दिखा दिया, है न कमाल ! पर मैं कहता हूँ – कमाल है या धोखा। ज्ञानी तो उसे कहते हैं – जो है उसे दिखाए, जो नहीं है उसे बताने वाला तो धोखेबाज ही हो सकता है। पर लोग सत्य के प्रति उत्साहित नहीं होते, महिमावंत नहीं होते; धोखे से प्रभावित होते हैं। कहते हैं सत्य में क्या है ? वह तो है ही, उसे दिखाने में क्या रखा है ? कमाल तो – जो नहीं है उसे दिखा देने में है।

असत्य के प्रति बहुमान वालों को सत्य प्राप्त होना कठिन ही नहीं, असम्भव है। सत्य– सत्य की रुचि, महिमा, लगन वालों को ही प्राप्त होता है।

आत्म-सत्य की तीव्र रुचि जागृत हो, उसकी महिमा आवे, उसे प्राप्त करने की तीव्रतम लगन लगे, उसे प्राप्त करने का अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ जगे और सत्य की प्राप्ति न हो, यह सम्भव नहीं है। सत्य के खोजी को सत्य प्राप्त होता ही है।

आत्मवस्तु के त्रैकालिक सत्यस्वरूप के आश्रय से उत्पन्न होने वाला वीतरागपरिणतिरूप उत्तमसत्यधर्म जन-जन में प्रकट हो, ऐसी पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।



उत्तमसंयम

'संयमन सयम । अथवा व्रतसमितिकपायदण्डेन्द्रियाणा धारणा-नुपालननिग्रहत्यागजया. सयम:' ।[1]

संयमन को सयम कहते हैं; संयमन अर्थात् उपयोग को पर-पदार्थ से समेट कर आत्मसन्मुख करना, अपने मे सीमित करना, अपने मे लगाना। उपयोग की स्वसन्मुखता, स्वलीनता ही निश्चय-संयम है। अथवा पाँच वतों का धारण करना, पाँच समितियो का पालन करना, क्रोधादि कपायो का निग्रह करना, मन-वचन-कायरूप तीन दण्डो का त्याग करना और पाँच इन्द्रियो के विषयो को जीतना सयम है।

सयम के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। जिसप्रकार वीज के विना वृक्ष की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलागम सभव नही है; उसीप्रकार सम्यग्दर्शन के विना सयम की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि एवं फलागम संभव नही है।

इस संदर्भ में महान दिग्गज आचार्य वीरसेन स्वामी लिखते है –

'सो सजमो जो सम्माविणाभावी ण अण्णो' ।[2]

सयम वही है, जो सम्यक्त्व का अविनाभावी हो, अन्य नही।

इसी वात को 'धवला, प्रथम पुस्तक' मे इसप्रकार प्रश्नोत्तर के रूप मे दिया गया है :–

प्रश्न – कितने ही मिथ्यादृष्टि सयत (सयमी) देखे जाते है ?

उत्तर – नही, क्योकि सम्यग्दर्शन के विना सयम की उत्पत्ति ही नही हो सकती ।[3]

सयम मुक्ति का साक्षात् कारण है। दु खो से छूटने का एकमात्र उपाय सम्यग्दर्शनसहित सयम अर्थात् उत्तमसयम ही है। विना

---

[1] धवला पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र ४, पृष्ठ १४४

[2] धवला पुस्तक १२, खण्ड ४, भाग २, सूत्र १७७, पृष्ठ ८१

[3] धवला पुस्तक १, खण्ड १, भाग १, सूत्र १३, पृष्ठ ३७८

संयम धारण किये तीर्थंकरों को भी मोक्ष प्राप्त नही होता।

कहा भी है –

जिस विना नही जिनराज सीझे, तू रुल्यो जग कीच मे।
इक घरी मत विसरो करो नित, आयु जम मुख वीच में।।[1]

निरन्तर मौत की आशंका से घिरे मानव को कवि प्रेरणा दे रहे हैं कि संयम को एक घडी के लिये भी मत भूलो (संयम विणु घड़ि एक्कु न जाइ), क्योकि यह सारा जगत संयम के विना ही इस संसार की कीचड़ में फँसा हुआ है। ससार-सागर से पार उतारने वाला एकमात्र संयम ही है।

संयम एक वहुमूल्य रत्न है। इसे लूटने के लिए पचेन्द्रिय के विपय-कषायरूपी चोर निरन्तर चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं।

अतः कवि सचेत करते हुए कहते है :–

'सयम रतन सभाल, विषय चोर चहुँ फिरत हैं।'[2]

आगे कहते हैं :–

उत्तम सजम गहु मन मेरे, भव-भव के भाज अघ तेरे।
सुरग नरक पशुगति मे नाही, आलस हरन करन सुख ठाही।।[3]

यहाँ अपने मन को समझाते हुए कहा गया है कि हे मन! उत्तमसंयम को धारण कर, इससे तेरे भव-भव के वधे पाप भाग जावेंगे, कट जावेंगे। यह सयम स्वर्गों और नरको मे तो है ही नही, अपितु पूर्ण संयम तो तिर्यञ्च गति मे भी नही है। एकमात्र मनुष्य भव ही ऐसा है जिसमे सयम धारण किथा जा सकता है।

मनुष्य जन्म की सार्थकता सयम धारण करने मे ही है। कहते हैं देव भी इस सयम के लिए तरसते हैं। जिस संयम के लिए देवता भी तरसते हो और जिस विना तीर्थंकर भी न तिरे, वह सयम कैसा होगा? इस पर हमे गम्भीरता से विचार करना चाहिए। उसे मात्र दो-चार दिन भूखे रहने एवं सिर मुडन करा लेने मात्र तक सीमित नही किया जा सकता।

---

[1] दशलक्षणधर्म पूजन, संयम सम्बन्धी छन्द

[2] वही

[3] वही

संयम दो प्रकार का होता है :-
(१) प्राणीसंयम और (२) इन्द्रियसंयम ।

छहकाय के जीवों के घात एव घात के भावो के त्याग को प्राणीसंयम और पचेन्द्रियो तथा मन के विपयो के त्याग को इन्द्रिय-संयम कहते हैं ।

पट्काय के जीवो की रक्षारूप अहिंसा एव पचेन्द्रियो के विषयो के त्यागरूप व्रतों की वात जव भी चलती है – हमारा ध्यान परजीवों के द्रव्यप्राणरूप घात एव वाह्य भोगप्रवृत्ति के त्याग की ओर ही जाता है; अभिप्राय में जो वासना वनी रहती है, उसकी ओर ध्यान ही नही जाता ।

इस संदर्भ में महापडित टोडरमलजी लिखते हैं :-

"वाह्य त्रस-स्थावर की हिंसा तथा इन्द्रिय-मन के विषयों में प्रवृत्ति उसको अविरति जानता है; हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है और विषयसेवन मे अभिलापा मूल है उसका अवलोकन नही करता। तथा वाह्य क्रोधादि करना उसको कषाय जानता है, अभिप्राय मे राग-द्वेप वस रहे हैं उनको नही पहिचानता ।"[1]

यदि वाह्य हिंसा का त्याग एवं इन्द्रियो के विपयो की प्रवृत्ति नही होने का ही नाम संयम है, तो फिर देवगति मे भी संयम होना चाहिए; क्योंकि सोलह स्वर्गों के ऊपर तो उक्त वातो की प्रवृत्ति संयमी पुरुपों से भी कम पाई जाती है ।

सर्वार्थसिद्धि के सम्यग्दृष्टि अहमिन्द्रो के पंचेन्द्रियो के विषयो की प्रवृत्ति वहुत कम या न के वरावर-सी पाई जाती है । स्पर्शनेन्द्रिय के विपय सेवन (मैथुन) की प्रवृत्ति तो दूर, तेतीस सागर तक उनके मन में विषय सेवन का विकल्प भी नही उठता ।

सर्वमान्य जैनाचार्य उमास्वामी ने स्पष्ट लिखा है :-

'परेऽप्रवीचारा:'[2]

सोलह स्वर्गों के ऊपर प्रवीचार का भाव भी नही होता ।

रसना इन्द्रिय के विषय में भी उन्हें तेतीस हजार वर्ष तक कुछ भी खाने-पीने का भाव नही आता । तेतीस हजार वर्ष के वाद भी

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२७

[2] तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ४, सूत्र ६

जब विकल्प उठता है तो गले से ही अमृत झर जाता है, जबान जूठी तब भी नही होती। इसीप्रकार घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रियो के विषयों का भी अभाव-सा ही पाया जाता है। उन्हें जिनेन्द्र पंचकल्याणक को देखने, दिव्यध्वनि सुनने तक का भाव नही आता।

षट्काय के जीवो की हिंसा का भी प्रसंग वहाँ नही है। कषाय भी सदा मंद, मदतर, और मदतम रहती है—क्योंकि उनके शुक्ल लेश्या होती है। पाँचो पापो की प्रवृत्ति भी नही देखी जाती। यह सब बाते जिनवाणी मे यत्र-तत्र-सर्वत्र देखी जा सकती हैं। कुछ कम-बढ इसीप्रकार की स्थिति नवग्रैवेयक के मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्रो के भी पाई जाती है।

जहाँ एक ओर अहमिन्द्रों के बाह्यरूप से षट्काय के जीवों की हिंसा, पंचेन्द्रिय के विषयो, कषायो और पॉचों पापो की प्रवृत्ति नही होने पर या कम से कम होने पर भी शास्त्रकार लिखते हैं कि उनके सयम नही है, वे असयमी है; वही दूसरी ओर अणुव्रती मनुष्य श्रावक को देशसयमी ही सही, पर संयमी कहा गया है—जबकि उसके अहमिन्द्रों की अपेक्षा हिसा, पचेन्द्रिय के विषयों, कषायों एव पापों में प्रवृत्ति अधिक देखी जाती है।

यद्यपि अणुव्रती के त्रसहिंसा का त्याग होता है; तथापि उद्योगी, आरंभी एवं विरोधी त्रसहिंसा से भी वह नही बच पाता है। प्रयोजनभूत स्थावरहिंसा तो होती ही है।

पंचेन्द्रियो के विपयो की दृष्टि से विचार करे तो स्पर्शन इन्द्रिय के सन्दर्भ मे यद्यपि वह परस्त्रीसेवन का सर्वथा त्यागी होता है तथापि स्वस्त्रीसेवन तो उसके पाया ही जाता है; जबकि अहमिन्द्रों के स्त्री-सेवन का मन मे भी विकल्प नही उठता। इसीप्रकार रसनेन्द्रिय के विषय मे विचार करे तो न सही अभक्ष्य भक्षण एवं खाने-पीने की लोलुपता; पर खाता-पीता तो है ही। भले ही शुद्ध खान-पान ही सही; पर स्वाद तो लेता ही होगा। अहमिन्द्रों के तो हजारों वर्ष तक भोजन ही नही, स्वाद की तो बात ही दूर है। घ्राण, चक्षु और कर्ण के विषय में भी यही स्थिति है। फिर भी अणुव्रती मनुष्य को सयमी कहा है।

यदि विषयो की बाह्य प्रवृत्ति के त्याग का नाम ही संयम होता तो फिर वह देवों मे अवश्य होना चाहिए था और मनुष्य एवं तिर्यंचों

मे उसकी सम्भावना कम होनी चाहिये थी। किन्तु शास्त्रो के अनुसार सयम देवो मे नही, मनुष्यों मे है। इससे सिद्ध होता है कि सयम मात्र बाह्य प्रवृत्ति का नाम नही – बल्कि उस पवित्र आन्तरिक वृत्ति का नाम है जो मानवो मे पाई जा सकती है; देवों मे नही, चाहे उनकी बाह्य वृत्ति कितनी ही ठीक क्यो न हो।

वस्तुत. सयम सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई उस परम पवित्र वीतराग परिणति का नाम है – जो कि छठे-सातवें गुणस्थान मे झूलने वाले ग्ग उससे आगे बढ़े हुए मुनिराजो के अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय के अभाव में प्राप्त होती है; तथा जो पंचमगुणस्थानवर्ती मनुष्य और तिर्यंचों मे भी अनन्तानुबधी व अप्रत्याख्यान कषाय के अभाव मे पाई जाती है; तथा अनन्तानुबंधी आदि कषायो के सद्भाव मे ग्रैवेयक तक के मिथ्यादृष्टि अहमिन्द्रो एव अप्रत्याख्यानावरणादि कषायो के सद्भाव मे सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रो मे नही पाई जाती है।

सम्यग्दर्शनपूर्वक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न हुई अनन्तानुबधी आदि तीन या दो कषायो के अभाव में प्रकट वीतराग परिणतिरूप उत्तमसंयम जब अन्तर में प्रकट होता है तब उस जीव की बाह्य परिणति भी पचेन्द्रियो के विषयों एवं हिंसादि पापो के सर्वदेश या एकदेश त्यागरूप नियम से होती है; उसे व्यवहार से उत्तमसयमधर्म कहते हैं। अतरंग मे उक्त वीतराग परिणति के अभाव में – चाहे जैसा बाह्य त्याग दिखाई दे; वह व्यवहार से भी उत्तमसयमधर्म नही है।

अतरग से बहिरग की व्याप्ति तो नियम से होती है, पर बहिरग के साथ अतरंग की व्याप्ति का कोई नियम नही है। तात्पर्य यह है कि जिसके अंतरग अर्थात् निश्चय उत्तमसंयमधर्म प्रकट होता है, उसका बाह्य व्यवहार भी नियमरूप से तदनुकूल होगा। किन्तु यदि बाह्य व्यवहार ठीक भी दिखाई दे तो भी कोई गारन्टी नही कि उसका अतरग भी पवित्र होगा ही।

उत्तमसयमधर्म मे छहकाय के जीवों की रक्षा एव पंचेन्द्रिय और मन को वश में करने की बात कही गई है :–

'काय छहो प्रतिपाल, पचेन्द्रिय मन वश करो।'

किन्तु सामान्यजन इसका भी सही भाव नही समझ पाते।

छहकाय के जीवों की रक्षा में उनका ध्यान परजीवों की रक्षा की ओर ही जाता है। 'मै स्वय भी एक जीव हूँ' इसका उन्हे ध्यान ही नही रहता। परजीवो की रक्षा का भाव करके सव जीवो ने पुण्यवध तो अनेक वार किया; किन्तु परलक्ष्य से निरन्तर अपने शुद्धोपयोग-रूप भावप्राणो का जो घात हो रहा है, उसकी ओर इनका ध्यान ही नही जाता। मिथ्यात्व और कपायभावों से यह जीव निरन्तर अपघात कर रहा है। इस महाहिंसा की इसे खवर ही नही है।

हिंसा की परिभाषा मे ही 'प्रमत्तयोगात्'[1] शव्द पड़ा है— जिसका तात्पर्य ही यह है कि प्रमाद अर्थात् कषाय के योग से अपने और पराये प्राणों का व्यपरोपण हिंसा है। इसे ही आचार्यकल्प पंडित टोडरमलजी ने 'हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है' कहा है। जव तक प्रमाद (कषाय) परिणति है तव तक हिंसा अवश्य है, चाहे परप्राणों का घात हो या न भी हो। इस सन्दर्भ मे विशेष जानने के लिए लेखक का 'अहिंसा'[2] सम्वन्धी लेख देखना चाहिए। प्रकृत मे विस्तृत विवेचन सम्भव नही है।

जव हम इन्द्रियसंयम के सम्वन्ध में विचार करते हैं तो देखते हैं कि सारा जगत इन्द्रियों का गुलाम हो रहा है। यद्यपि सभी आत्माएँ ज्ञानानंद-स्वभावी है तथापि वर्त्तमान मे हमारा ज्ञान भी इन्द्रियों की कैद में है और आनन्द भी इन्द्रियाधीन हो रहा है। सुबह से शाम तक हमारे सारे कार्य इन्द्रियों के माध्यम से ही सम्पन्न होते हैं। यदि हम आनन्द लेंगे तो इन्द्रियो के माध्यम से और कुछ जानेंगे तो भी इन्द्रियों के माध्यम से ही। यह है हमारी इन्द्रियाधीनता, पराधीनता। हमारा ज्ञान भी इन्द्रियाधीन और आनन्द भी इन्द्रियाधीन।

ज्ञान और आनन्द को इन्द्रियों की पराधीनता से मुक्त कराना वहुत जरूरी है। तदर्थ हमे इन्द्रियों को जीतना होगा, जितेन्द्रिय वनना होगा।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि इन्द्रियाँ क्या हमारी शत्रु हैं जो उन्हे जीतना है? जीता तो शत्रु को जाता है।

हाँ! हाँ!! वे हमारी शत्रु हैं, क्योंकि उन्होने हमारी ज्ञानानंद-निधि पर अनाधिकार अधिकार कर रखा है।

---

[1] प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा। तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ७, सूत्र १३

[2] तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ १८५

आप यह भी कह सकते हैं – इन्द्रियाँ तो हमारे आनन्द और ज्ञान मे सहायक हैं। वे तो हमें पचेन्द्रियो के भोगों के आनन्द लेने मे सहायता करती हैं, पदार्थों को जानने मे भी सहायता करती हैं। सहायको को शत्रु क्यो कहते हो ? सहायक तो मित्र होते हैं, शत्रु नही।

पर आप यह क्यो भूल जाते हैं कि ज्ञान और आनन्द तो आत्मा का स्वभाव है। स्वभाव मे पर की अपेक्षा नही होती। अतीन्द्रिय-आनन्द और अतीन्द्रियज्ञान को किसी 'पर' की सहायता की आवश्यकता नही है।

यद्यपि इन्द्रियसुख और इन्द्रियज्ञान में इंन्द्रियाँ निमित्त होती हैं, तथापि इन्द्रियसुख सुख है ही नही। वह सुखाभास है, सुख-सा प्रतीत होता है, पर वस्तुत. सुख नही, दु.ख ही है, पापबंध का कारण होने से आगामी दु ख का भी कारण है। इसीप्रकार इन्द्रियाँ रूप-रस-गन्ध-स्पर्श और शब्द की ग्राहक होने से मात्र जड़ को जानने मे ही निमित्त है, आत्मा को जानने मे वे साक्षात् निमित्त भी नही हैं।

विषयों में उलझाने मे निमित्त होने से इन्द्रियाँ संयम मे बाधक ही हैं, साधक नही।

पचेन्द्रियो के जीतने के प्रसग में भी सामान्यजनों का ध्यान इन्द्रियो के भोगपक्ष की ओर ही जाता है, ज्ञानपक्ष की ओर कोई ध्यान ही नही देता। इन्द्रियसुख को त्यागने की बात तो सभी करते हैं; पर इन्द्रियज्ञान भी हेय है, आत्महित के लिए अर्थात् अतीन्द्रियसुख और अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियज्ञान की भी उपेक्षा आवश्यक है – इसे बहुत कम लोग जानते है।

जब इन्द्रियसुख भोगते-भोगते अतीन्द्रियसुख प्राप्त नही किया जा सकता तब इन्द्रियज्ञान के माध्यम से अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति कैसे होगी ? आत्मा के अनुभव के लिए जिसप्रकार इन्द्रियसुख त्याज्य है; उसीप्रकार अतीन्द्रियज्ञान की प्राप्ति के लिए इन्द्रियज्ञान से भी विराम लेना होगा।

प्रवचनसार में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :–

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं-च तं णेयं ।।५३।।

जिसप्रकार ज्ञान मूर्त-अमूर्त और इन्द्रिय-अतीन्द्रिय होता है; उसीप्रकार सुख भी अमूर्त-मूर्त और इन्द्रिय-अतीन्द्रिय होता है। इनमें

इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियसुख हेय है और अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रियसुख उपादेय है।

प्रवचनसार की ही पचपनवी गाथा की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते है –

'अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेयं प्रणिन्दति ।'

अब, इन्द्रियसुख का साधनभूत इन्द्रियज्ञान हेय है – इसप्रकार उसकी निन्दा करते है।

इन्द्रियज्ञान से विराम लेने की बात तो बहुत दूर; आज हम इन्द्रियों के विषयो (भोगों) को भी छोडने में नही, जोडने मे लग रहे हैं। पेट के नाम पर पेटी भर रहे हैं। हमसे तो वे चौपाये पशु अच्छे जिनकी तृष्णा पेट तक ही सीमित है। पेट भर जाने पर वे घटे-दो घंटे को ही सही, खाने-पीने से विरत हो जाते हैं; पर प्राणी-जगत का यह बुद्धिमान दोपाया सभ्यमानव पलभर को भी विराम नहीं लेता।

यद्यपि अन्य प्राणियों की तुलना मे इसका पेट बहुत छोटा है, पर वह कभी भरता ही नही। यदि पेट भर भी जावे तो मन नही भरता। कहता है कि पेट के लिए सब कुछ करना पड़ता है। पर यह सब बहाना है। पेट भर जाने पर भी तो इसका मुँह बन्द नही होता, चलता ही रहता है। जब तक पेट मे समाता है तब तक ऐसा खाना खाता है जो पेट में जावे; पर जब पेट भर जाता है तो पान-सुपारी-इलायची आदि ऐसे पदार्थों को खाने लगता है जिनसे रसनेन्द्रिय के विषय की तृप्ति तो हो, पर पेट पर वजन न पड़े। कुछ लोग तो ऐसे मिलेंगे जो चौबीसो घटे मुँह मे कुछ-न-कुछ डाले ही रहेगे। सोते समय भी डाढ़ के नीचे पान दाबकर सोयेंगे।

भरपेट सुस्वादु भोजन कर लेने के बाद भी न मालूम क्यों इन्हें घासपत्ती खाने की इच्छा होती है? लगता है ऐसे लोग तिर्यञ्च योनि से आये हैं, अत. घास खाने का अभ्यास है जो छूटता नही; अथवा तिर्यञ्च गति मे जाने की तैयारी है, इस कारण अभ्यास छोड़ना नहीं चाहते। क्योंकि घास खाने और वह भी चौबीसों घटे खाने का अभ्यास यदि छूट गया तो फिर क्या होगा? अथवा ऐसा भी हो सकता है कि नरकगति से आये हो। वहाँ सागरों पर्यन्त भोजन नही मिला था, अब मिला है तो उस पर टूट पड़े हैं। या फिर नरक

जाने की तैयारी है। सोचते है कि जितने दिन हैं, खा ले; फिर न मालूम मिलेगा या नही।

जो भी हो, पर ऐसे लोग पेट भरने के नाम पर पचेन्द्रियों के विषयो को ही भोगने में लगे रहते है।

मैं पूछता हूँ प्यासे को मात्र पानी की जरूरत है या ठडें-मीठे-रगीन पानी की। पेट को तो पानी की ही जरूरत है – चाहे वह गर्म हो या ठंडा, पर स्पर्शन इन्द्रिय की माँग है ठडें पानी की, रसनेन्द्रिय की माँग है मीठे पानी की, घ्राण कहती है सुगधित होना चाहिये, फिर आँख की पुकार होती है रगीन हो तो ठीक रहेगा।

एयरकण्डीशन होटल मे बैठकर रेडियो का गाना सुनते-सुनते जव हम ठडा-मीठा-सुगंधित-रगीन पानी पीते है तो एक गिलास का एक रुपया चुकाना पड़ता है। यह एक रुपया क्या प्यासे पेट की आवश्यकता थी ? पेट की प्यास तो मुफ्त के एक गिलास पानी से बुझ सकती थी। एक रुपया पेट की प्यास बुझाने में नही, इन्द्रियों की प्यास बुझाने मे गया है।

इन्द्रियों के गुलामो को न दिन का विचार है न रात का, न भक्ष का विचार है न अभक्ष का। उन्हे तो जब जैसा मिल जावे खाने-पीने-भोगने को तैयार हैं। बस उनकी तो एक ही माँग है कि इन्द्रियों को अनुकूल लगना चाहिए; चाहे वह पदार्थ हिसा से उत्पन्न हुआ हो, चाहे मलिन ही क्यों न हो, इसका उन्हे कोई विचार नही रहता।

जिनके भक्षण में अनन्त जीवराशि का भी विनाश क्यों न हो – ऐसे पदार्थों के सेवन मे भी इन्हे कोई परहेज नही होता, वल्कि उनका सेवन नही करने वालो की हँसी करने मे ही इन्हे रस आता है। वे अपने असयम की पुष्टि मे अनेक प्रकार की कुतर्कें करते रहते हैं।

एक सभा के बीच ऐसे ही एक भाई मुझसे वोले – "हमने सुना है कि आलू आदि जमीकदों में अनन्त जीव रहते हैं ?"

जब मैंने कहा – "रहते तो है।" तव कहने लगे – "उनकी आयु कितनी होती है ?"

"एक श्वास के अठारहवे भाग" यह उत्तर पाकर बोले – "जब उनकी आयु ही इतनी कम है तो वे तो अपनी आयु की समाप्ति से ही मरते होगे, हमारे खाने से तो मरते नही। फिर इनके खाने मे क्या दोष है ?"

मैंने कहा – "भाई ! जरा विचार तो करो। भले ही वे अपनी आयु समाप्ति के कारण मरते हों, पर मरते तो तुम्हारे मुंह मे हैं; और वही जन्म भी ले लेते हैं। जरा से स्वाद के लिए अनंत जीवों का मुर्दाघर और जच्चाखाना अपने मुंह को, पेट को क्यों वनाते हो ?

यदि कोई तुम्हारे घर को जच्चाखाना वनाना चाहे या मुर्दाघर वनाना चाहे, तो क्या सहज स्वीकार कर लोगे ?"

"नही।"

"तो फिर मुंह को, पेट को क्यों वनाते हो ?"

तव वे कहने लगे – "हम उन्हे मारते तो नही, वे स्वयं मर जाते हैं।"

तव प्रेम से समझाते हुए मैंने कहा – "आपके घर में किसी को मारकर नही जलावेंगे, उन्ही को जलावेंगे जो स्वयं की मौत से मरेंगे तथा अवैध वच्चों को नही, पर वैध वच्चों को पैदा करने वाली जच्चाओं को ही रखेंगे, तव तो आपको कोई ऐतराज न होगा ?

यदि होगा तो फिर स्वयंमृत और जन्म लेने वाले जीवों का मरणस्थान और जन्मस्थान अपने मुंह को क्यों वनाना चाहते हो ?

भाई ! राग की तीव्रता और अधिकता विना ऐसे निन्द्य काम सम्भव नही हैं। राग की तीव्रता और अधिकता ही महाहिसा है। अत. हिसामूलक एवं इन्द्रियो की लोलुपतारूप ऐसे असयम को छोड ही देना चाहिए।"

यह वात सुनकर उन भाई ने तो अभक्ष्य-भक्षण छोड़ ही दिया और भी अनेक लोगो ने हिसामूलक एवं इन्द्रियगृद्धतारूप अभक्ष्य-भक्षण का त्याग किया।

यद्यपि सारा जगत इन्द्रियो के भोगो में ही उलझा है तथापि वैराग्य का वातावरण पाकर भोगों को छोड देना उतना कठिन नही है – जितना इन्द्रियो के माध्यम से होने वाली ज्ञान की वर्बादी रोकना है। क्योकि इन्द्रियभोगो को तो सारा जगत बुरा कहता है, पर इन्द्रियज्ञान को उपादेय माने वैठा है। जिसे उपादेय माना हो, उसे छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि इन्द्रियो के माध्यम से तो ज्ञान उत्पन्न होता है और आप वर्वाद होना कहते है ?

हाँ ! हम यही कहते हैं और ठीक कहते हैं, क्योकि ज्ञान की उत्पत्ति तो आत्मा में आत्मा से ही होती है। इन्द्रियों के माध्यम से तो वह बाह्य पदार्थों में लगता है, पर-पदार्थो में लगता है। इन्द्रियों के माध्यम से पुद्गल का ही ज्ञान होता है क्योंकि वे रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द की ग्राहक हैं। आत्मा का हित आत्मा को जानने मे है, अतः पर मे लगा ज्ञान का क्षयोपशम ज्ञान की बर्बादी ही है, आबादी नही।

अनादिकाल से आत्मा ने पर को जाना, पर आज तक सुखी नही हुआ। किन्तु एक बार भी यदि आत्मा अपने आत्मा को जान लेता तो सुखी हुए बिना नही रहता।

यह तो ठीक, पर इससे संयम का क्या सम्बन्ध ? यही कि संयमन का नाम ही तो संयम है, उपयोग को पर-पदार्थों से समेटकर निज में लीन होना ही संयम है। जैसा कि 'धवल' मे कहा है और जिसे आरम्भ मे ही स्पष्ट किया जा चुका है।

यह आत्मा पर की खोज में इतना व्यस्त है और असंयमित हो गया है कि खोजने वाला ही खो गया है। परज्ञेय का लोभी यह आत्मा स्वज्ञेय को भूल ही गया है। बाह्य पदार्थों की जानने की व्यग्रता में अन्तर में झाँकने की फुर्सत ही नही है इसे।

यह एक ऐसा सेठ बन गया है जिसकी टेबल पर पाँच-पांच फोन लगे हैं। एक से बात समाप्त नही होती कि दूसरे फोन की घंटी टनटना उठती है। उससे भी बात पूरी नही हो पाती कि तीसरा फोन बोल उठता है। इसीप्रकार फोनो का सिलसिला चलता रहता है। फोन पाँच-पाँच हैं और उनकी बात सुनने वाला एक है।

इसीप्रकार इन्द्रियाँ पाँच हैं और उनके माध्यम से जानने वाला आत्मा एक है। बाहरी तत्त्व पुद्गल की रूप-रस-गंध-स्पर्श-शब्द सम्बन्धी सूचनाएँ इन्द्रियो के माध्यम से निरन्तर आती रहती हैं। कानो के माध्यम से सूचना मिलती है कि यह हल्ला-गुल्ला कहाँ हो रहा है ? उस पर विचार ही नही कर पाता कि नाक कहती है – बदबू आ रही है। उसके बारे में कुछ सोचे कि आँख के माध्यम से कुछ काला-पीला दिखने लगता है। उसका कुछ विचार करे कि ठंडी हवा या गर्म लू का झोका अपनी सत्ता का ज्ञान कराने लगता है। उससे सावधान भी नही हो पाता कि मुंह में रखे पान मे यह कड़वापन कहाँ से आ गया – रसना यह सूचना देने लगती है।

क्या करे यह बेचारा आत्मा ! बाहर की सूचनाएँ और जानकारियाँ ही इतनी आती रहती है कि अन्तर में जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आत्मतत्त्व विराजमान है, उसकी ओर झांकने की भी इसे फुर्सत नही है।

इन्द्रियों के माध्यम से परज्ञेयों मे उलझा यह आत्मा स्वज्ञेय निजात्मा को आज तक जान ही नही पाया – उसे माने कैसे, उसमें जमे कैसे, रमे कैसे ? यही एक विकट समस्या है।

आत्मा मे जमना-रमना ही संयम है। अतः संयम को प्राप्त करने के लिये मात्र इन्द्रियभोगों को नही, इन्द्रियज्ञान को भी तिलाञ्जलि देनी होगी, चाहे वह अन्तमुहूर्त्त को ही सही। इन्द्रियज्ञान मे उपादेय बुद्धि तो छोड़नी ही होगी। उसके बिना तो सम्यग्दर्शन भी सम्भव नही है और सम्यग्दर्शन के बिना सयम होता नही है।

'पचेन्द्रिय मन वश करो' का आशय इन्द्रियो को तोड़ना-फोड़ना नही वरन् उनके भोगों एवं उनके माध्यम से होने वाली ज्ञान की बर्बादी को रोकना ही है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी सम्भव है कि आत्मा का स्वभाव स्वपर-प्रकाशक है, तो फिर पर को जानने मे क्या हानि है ?

पर को जाननामात्र बंध का कारण नही है। केवली भगवान पर को जानते ही हैं। यदि लोकालोक को जानने वाला पूर्णज्ञान हो तो फिर पर को नही जानने का कोई प्रश्न ही नही उठता। पर बात यह है कि छद्मस्थों (अल्पज्ञानियो) का उपयोग एक साथ अनेक ओर नही रहता, एक बार एक ज्ञेय को ही जानता है। जब उनका उपयोग पर की ओर रहता है तब-तब आत्मा जानने मे नही आता, आ भी नही सकता। यही कारण है कि पर मे उपयोग लगे रहने से आत्मा के जानने में, आत्मानुभूति मे बाधा पहुचती है। दूसरे इन्द्रियों के माध्यम से जितना भी जानना होता है, वह सब पुद्गल का ही होता है। यही कारण है कि इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान मे साधक नही बल्कि बाधक है।

पर यह अपने को चतुर मानने वाला जगत कहता है कि अपना पाडा यदि दूसरे की भैंस का दूध पी आवे तो क्या हानि है ? अपनी भैंस का दूध दूसरो के पाडे को नही पीने देना चाहिए। पर उसे यह पता नही है यदि अपना पाडा प्रतिदिन दूसर की भैंस का दूध पीता

रहेगा तो एक दिन वह उसी का हो जावेगा। उसी को अपनी माँ मानने लगेगा, जिसका दूध उसे प्रतिदिन मिलेगा। फिर वह आपकी भैंस को अपनी माँ न मान सकेगा।

आप समझते रहेगे कि आपका पाडा दूसरे की भैंस का दूध पी रहा है, पर वह समझता है कि उसकी भैंस को बच्चा मिल गया है।

इसीप्रकार निरन्तर पर को ही जानने वाला ज्ञान भी एक तरह से पर का हो जाता है। वस्तुत आत्मा को जानने वाला ज्ञान ही आत्मा का है, आत्मज्ञान है। पर को जानने वाला ज्ञान एक दृष्टि से ज्ञान ही नही हैं; वह तो अज्ञान है, ज्ञान की वर्बादी है।

लिखा भी है :-

आत्मज्ञान ही ज्ञान है, शेष सभी अज्ञान।
विश्वशान्ति का मूल है, वीतराग-विज्ञान ।।[1]

सयम की सर्वोत्कृष्ट दशा ध्यान है। वह आँख बद करके होता है, खोलकर नही। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आत्मानुभव एव आत्मध्यान इन्द्रियातीत होता है; आत्मानुभव एव आत्मध्यानरूप सयम के लिए इन्द्रियो के प्रयोग की आवश्यकता नही है।

इन्द्रियज्ञान को भी हेय मानने वाले आत्मार्थी का जीवन अमर्यादित इन्द्रियभोगो मे लगा रहे, यह सभव नही है।

कहा भी है –

ग्यान कला जिनके घट जागी, ते जगमाँहि सहज वैरागी।
ग्यानी मगन विषैसुखमाँही, यह विपरीति संभवै नाही ।।४१।।[2]

उत्तमसयम के धारी महाव्रती मुनिराजों के तो भोग की प्रवृत्ति देखी ही नही जाती। देशसंयमी अणुव्रती श्रावक के यद्यपि मर्यादित भोगो की प्रवृत्ति देखी जाती है, तथापि उसके तथा अव्रती सम्यग्दृष्टि के भी अनर्गल प्रवृत्ति नही होती।

आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होने वाला अन्तर्वाह्य उत्तमसयम-धर्म हम सबको शीघ्रातिशीघ्र प्रकट हो, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ और भावना भाता हूँ कि –

'वो दिन कब पाऊँ, घर को छोड़ वन जाऊँ।'

---

[1] डॉ० भारिल्ल - वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका, मगलाचरण
[2] बनारसीदास - नाटक समयसार, निर्जरा द्वार, पृष्ठ १५६

उत्तमतप

आचार्य कुन्दकुन्द के प्रसिद्ध परमागम प्रवचनसार की तात्पर्य-वृत्ति नामक संस्कृत टीका (७९वीं गाथा) में तप की परिभाषा आचार्य जयसेन ने इसप्रकार दी है :–

'समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपनं विजयनं तपः।'

समस्त रागादि परभावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्व स्वरूप मे प्रतपन करना – विजयन करना तप है। तात्पर्य यह है कि समस्त रागादि भावो के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप मे – अपने में लीन होना अर्थात् आत्मलीनता द्वारा विकारो पर विजय प्राप्त करना तप है।

इसीप्रकार का भाव प्रवचनसार की तत्त्वदीपिका टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने भी व्यक्त किया है।[१] 'धवल' मे इच्छा निरोध को तप कहा है।[२] इसप्रकार हम देखते हैं कि नास्ति से इच्छाओ का अभाव और अस्ति से आत्मस्वरूप मे लीनता ही तप है।

तप के साथ लगा 'उत्तम' शब्द सम्यग्दर्शन की सत्ता का सूचक है। सम्यग्दर्शन के बिना किया गया समस्त तप निरर्थक है।

कहा भी है :–

सम्मत्तविरहिया णं सुट्ठु वि उग्गं तव चरंता ण।
ण लहंति बोहिलाह अवि वाससहस्सकोडीहिं ।।५।।[३]

यदि कोई जीव सम्यक्त्व के विना करोडो वर्षों तक उग्र तप भी करे तो भी वह बोधिलाभ प्राप्त नही कर सकता।

इसीप्रकार का भाव पडित दौलतरामजी ने भी व्यक्त किया है :–

कोटि जन्म तप तपैं, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी के छिन माँहि, त्रिगुप्ति तैं सहज टरैं ते ।।[४]

---

[१] प्रवचनसार, गाथा १४ की टीका

[२] धवला पुस्तक १३, खण्ड ५, भाग ४, सूत्र २६, पृष्ठ ५४

[३] आचार्य कुन्दकुन्द अष्टपाहुड (दर्शनपाहुड), गाथा ५

[४] छहढाला, चतुर्थ ढाल, छन्द ५

देह और आत्मा का भेद नही जानने वाला अज्ञानी मिथ्यादृष्टि यदि घोर तपश्चरण भी करे तब भी मुक्ति को प्राप्त नही कर सकता । समाधिशतक में आचार्य पूज्यपाद लिखते हैं :–

यो न वेत्ति पर देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वापि परमं तपः ।।३३।।

जो अविनाशी आत्मा को शरीर से भिन्न नही जानता, वह घोर तपश्चरण करके भी मोक्ष को प्राप्त नही करता ।

उत्तमतप सम्यक्चारित्र का भेद है और सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान बिना नही होता । परमार्थ के बिना अर्थात् शुद्धात्मतत्त्वरूपी परम अर्थ की प्राप्ति बिना किया गया समस्त तप बालतप है । आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में लिखते हैं :–

परमट्ठम्हि दु अठिदो जो कुणदि तव वद च धारेदि ।
त सव्व बालतव बालवदं बेति सव्वण्हू ।।१५२।।

परमार्थ मे अस्थित अर्थात् आत्मानुभूति से रहित जो जीव तप करता है और व्रत धारण करता है, उसके उन सब व्रतों और तप को सर्वज्ञ भगवान बालव्रत और बालतप कहते हैं ।

जिनागम मे उत्तमतप की महिमा पद-पद पर गाई गई है । भगवती आराधना में तो यहाँ तक लिखा है :–

त णत्थि जं ण लब्भइ तवसा सम्मं कएण पुरिसस्स ।
अग्गीव तणं जलिओ कम्मतण डहदि य तवग्गी ।।१४७२।।
सम्म कदस्स अपरिस्सवस्स ण फल तबस्स बण्णेदुं ।
कोई अत्थि समत्थे जस्स वि जिब्भा सयसहस्सं ।।१४७३।।

जगत में ऐसा कोई पदार्थ नही जो निर्दोष तप से पुरुष को प्राप्त न हो सके अर्थात् तप से सर्व उत्तम पदार्थों की प्राप्ति होती है । जिसप्रकार प्रज्वलित अग्नि तृण को जलाती है, उसीप्रकार तपरूपी अग्नि कर्मरूप तृण को जलाती है । उत्तम प्रकार से किया गया कर्मास्रव रहित तप का फल वर्णन करने मे हजार जिह्वा वाला भी समर्थ नही हो सकता ।

तप की महिमा गाते हुए महाकवि द्यानतरायजी लिखते हैं :–

तप चाहै सुरराय, करम शिखर को वज्र है ।
द्वादश विध सुखदाय, क्यो न करे निज सकति सम ।।

उत्तम तप सब माहि बखाना, करम शैल को वज्र समाना ।[1]

उक्त पक्तियों मे दो-दो बार तप के लिए कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाला बताया गया है । यह भी कहा गया है कि जिस तप को देवराज इन्द्र भी चाहते हैं, जो वास्तविक सुख प्रदान करने वाला है; उसे दुर्लभ मनुष्यभव प्राप्त कर हम भी अपनी शक्ति अनुसार क्यो न करे ? अर्थात् हमे अपनी शक्ति अनुसार तप अवश्य करना चाहिए ।

जिस तप के लिए देवराज तरसे और जो तप कर्म-शिखर को बज्र समान हो वह तप कैसा होता होगा—यह बात मननीय है । उसे मात्र दो-चार दिन भूखे रहने या अन्य प्रकार से किये बाह्य काय-क्लेशादि तक सीमित नही किया जा सकता ।

उत्तमतप अपने स्वरूप और सीमाओं की सम्यक् जानकारी के लिए गभीरतम अध्ययन, मनन और चिंतन की अपेक्षा रखता है ।

यदि भोजनादि नही करने का नाम ही तप होता तो फिर देवता उसके लिए तरसते क्यों ? भोजनादि का त्याग तो वे आसानी से कर सकते हैं । उनके भोजनादि का विकल्प भी हजारो वर्ष तक नही होता । यह बात संयम की चर्चा करते समय विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है ।

तप दो प्रकार का माना गया है :—

(१) बहिरंग और (२) अतरग ।

बहिरंग तप छह प्रकार का होता है[2] :—

(१) अनशन (२) अवमौदर्य (३) वृत्तिपरिसख्यान (४) रसपरित्याग (५) विविक्त शय्यासन और (६) काय-क्लेश ।

इसीप्रकार अतरग तप भी छह प्रकार का होता है[3] —

(१) प्रायश्चित्त (२) विनय (३) वैयावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग, और (६) ध्यान ।

इसप्रकार कुल तप बारह प्रकार के होते हैं ।

---

[1] दशलक्षण पूजन, तप सम्बन्धी छन्द

[2] अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्य तप । तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६, सूत्र १६

[3] प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्तरम् । तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ६, सूत्र २०

उक्त समस्त तपो में – चाहे वे बाह्य तप हों या अतरग, एक शुद्धोपयोगरूप वीतरागभाव की ही प्रधानता है। इच्छाओ के निरोधरूप शुद्धोपयोगरूपी वीतरागभाव ही सच्चा तप है। प्रत्येक तप मे वीतराग भाव की वृद्धि होनी ही चाहिए – तभी वह तप है अन्यथा नही।

इस सन्दर्भ मे आचार्यकल्प पडित टोडरमलजी के विचार दृष्टव्य हैं :–

"अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है, क्योंकि अनशनादि साधन से प्रायश्चित्तादिरूप प्रवर्त्तन करके वीतरागभावरूप सत्यतप का पोषण किया जाता है; इसलिए उपचार से अनशनादि को तथा प्रायश्चित्तादि को तप कहा है। कोई वीतरागभावरूप तप को न जाने और इन्ही को तप जानकर संग्रह करे तो ससार ही मे भ्रमण करेगा। वहुत क्या, इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है, अन्य नाना विशेष बाह्यसाधन की अपेक्षा उपचार से किए हैं, उनको व्यवहारमात्र धर्मसज्ञा जानना।"[1]

"ज्ञानीजनों को उपवासादि की इच्छा नही है, एक शुद्धोपयोग की इच्छा है; उपवासादि करने से शुद्धोपयोग बढता है, इसलिए उपवासादि करते हैं। तथा यदि उपवासादि से शरीर या परिणामो की शिथिलता के कारण शुद्धोपयोग को शिथिल होता जाने तो वहाँ आहारादिक ग्रहण करते हैं ······ ····

प्रश्न – यदि ऐसा है तो अनशनादिक को तपसंज्ञा कैसे हुई ?

समाधान – उन्हे वाह्य तप कहा है। सो वाह्य का अर्थ यह है कि – 'वाहर से औरो को दिखाई दे कि यह तपस्वी है,' परन्तु आप तो फल जैसे अंतरंग परिणाम होगे, वैसा ही पायेगा, क्योकि परिणामशून्य शरीर की क्रिया फलदाता नही है······ ···

वाह्य साधन होने से अंतरंग तप की वृद्धि होती है इसलिये उपचार से इनको तप कहा है; परन्तु यदि वाह्य तप तो करे और अंतरंग तप न हो तो उपचार से भी उसे तपसज्ञा नही है।"[2]

"तथा अतरंग तपों मे प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग और ध्यानरूप जो क्रियाएँ, उनमे वाह्य प्रवर्तन उसे तो वाह्य

---

[1] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३३

[2] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१

तपवत् ही जानना। जैसे अनशनादि बाह्य क्रिया हैं उसीप्रकार यह भी वाह्य क्रिया है; इसलिए प्रायश्चित्तादि बाह्य साधन अंतरग तप नही है। ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अंतरंग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम अंतरंग तप जानना।"[१]

यद्यपि अंतरंग तप ही वास्तविक तप है, बहिरंग तप को उपचार से तपसंज्ञा है; तथापि जगतजनों को बाह्य तप करने वाला ही बड़ा तपस्वी दिखाई देता है।

एक घर के दो सदस्यों में से एक ने निर्जल उपवास किया; पर दिन भर गृहस्थी के कार्यों मे ही उलझा रहा। दूसरे ने यद्यपि दिन मे भोजन दो बार किया; किन्तु दिनभर आध्यात्मिक अध्ययन, मनन, चिन्तन, लेखन, पठन-पाठन करता रहा।

जगतजन उपवास करने वाले को ही तपस्वी मानेंगे, पठन-पाठन करने वाले को नही। जितना कोमल व्यवहार उपवास वाले से किया जायगा उतना पठन-पाठन वाले से नही। यदि उसने अधिक गड़बड की तो डाँट भी पड़ेगी। कहा जायगा कि तुमने तो दो-दो बार खाया है, उसका तो उपवास था। हर बात मे उपवास वाले को प्राथमिकता प्राप्त होगी।

ऐसा क्यों होता है ?

इसलिए कि जगतजन उसे तपस्वी मानते हैं, जबकि उसने कुछ नही किया। उपवास किया अर्थात् भोजन नही किया, पानी नही पिया। यह सब तो नही किया हुआ। किया क्या ? कुछ नहीं। जबकि अध्ययन-मनन-चिन्तन, पठन-पाठन करने वाले ने यह सब किया है – वाह्य ही सही; पर ये सब स्वाध्याय के ही रूप है और स्वाध्याय भी एक तप है। पर उसे यह भोला जगत तपस्वी मानने को तैयार नही, क्योंकि उसे यह कुछ किया-सा ही नही लगता।

उपवास तो कभी-कभी किया जाता है, पर स्वाध्याय और ध्यान प्रतिदिन किये जाते है। स्वाध्याय और ध्यान अन्तरग तप हैं और तपों मे सर्वश्रेष्ठ हैं। फिर भी यह जगत स्वाध्याय और ध्यान करने वालों की अपेक्षा उपवासादि काय-क्लेश करने वालों को ही महत्त्व देता है।

यह दुनियाँ ऐसा भेद मुनिराजों मे भी डालती है। दिन-रात आत्मचिन्तन में रत ज्ञानी-ध्यानी मुनिराजो की अपेक्षा जगत-प्रपंचो

---

[१] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३२

मे उलझे किन्तु दश-दश दिन तक उपवास के नाम पर लंघन करने वालो को बड़ा तपस्वी मानती है, उनके सामने ज्यादा झुकती है; जबकि आचार्य समन्तभद्र ने तपस्वी की परिभाषा इसप्रकार दी है :—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।[1]

पचेन्द्रियों के विषयों की आशा, आरम्भ और परिग्रह से रहित; ज्ञान, ध्यान और तप में लीन तपस्वी ही प्रशसनीय है ।

उपवास के नाम पर लघन की बात क्यो करते हो ?

इसलिये कि ये लोग उपवास का भी तो सही स्वरूप नही समझते । मात्र भोजन-पान के त्याग को उपवास मानते हैं, जबकि उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है । नास्ति से भी विचार करें तो पचेन्द्रियो के विषय, कषाय और आहार के त्याग को उपवास कहा गया है, शेष तो सब लघन है ।

कषायविषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते ।
उपवास. स विज्ञेय· शेष लंघनकं विदु. ।।[2]

इसप्रकार हम देखते हैं कि कषाय, विषय और आहार के त्यागपूर्वक आत्मस्वरूप के समीप ठहरना – ज्ञान-ध्यान मे लीन रहना ही वास्तविक उपवास है। किन्तु हमारी स्थिति क्या है ? उपवास के दिन हमारी कषाये कितनी कम होती हैं ? उपवास के दिन तो ऐसा लगता है जैसे हमारी कषाये चौगुनी हो गई है ।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त बारह तपो में प्रथम की अपेक्षा दूसरा, दूसरे की अपेक्षा तीसरा, इसीप्रकार अन्त तक उत्तरोत्तर तप अधिक उत्कृष्ट और महत्त्वपूर्ण है । अनशन पहला तप है और ध्यान अन्तिम । ध्यान यदि लगातार अन्तर्मुहूर्त करे तो निश्चित रूप से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, किन्तु उपवास वर्ष भर भी करे तो केवलज्ञान की गारण्टी नही । यह नकली उपवास की बात नही, असली उपवास की बात है। प्रथम तीर्थंकर मुनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही एक वर्ष एक माह और सात दिन तक निराहार रहे, फिर भी हजार वर्ष तक केवलज्ञान नही हुआ । भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के वाद आत्मध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त्त मे ही केवलज्ञान हो गया ।

---

[1] रत्नकरण्ड श्रावकाचार, छन्द १०
[2] मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३१

अनशन से अवमौदर्य, अवमौदर्य से वृत्तिपरिसंख्यान, वृत्तिपरिसख्यान से रसपरित्याग अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए इनका सामान्य स्वरूप जानना आवश्यक है।

अनशन में भोजन का पूर्णत त्याग होता है, पर अवमौदर्य मे एक बार भोजन किया जाता है; इसकारण इसे एकासन भी कहते हैं। यद्यपि इसमे एक बार भोजन किया जाता है, तथापि भर पेट नहीं; इसकारण इसे ऊनोदर भी कहते हैं। किन्तु आज यह ऊनोदर न रहकर दूनोदर हो गया है, क्योंकि लोग एकासन मे एक समय का नही, दोनो समय का गरिष्ठ भोजन कर लेते हैं।

भोजन को जाते समय अनेक प्रकार की अटपटी प्रतिज्ञाएँ ले लेना, उनकी पूर्त्ति पर ही भोजन करना; अन्यथा उपवास करना वृत्तिपरिसख्यान है। षटरसो मे कोई एक-दो या छहो ही रसो का त्याग करना, नीरस भोजन लेना रसपरित्याग है।

उपर्युक्त चारों ही तप भोजन या भोजन-त्याग से सम्बन्धित हैं। इनमें इच्छाओ का निरोध एव शारीरिक आवश्यकताओ के बीच कितना संतुलित नियमन है – यह दृष्टव्य है।

इनमें एक वैज्ञानिक क्रमिक विकास है। यदि चल सके तो भोजन करो ही नही (अनशन); न चले तो एक बार दिन मे शाति से अल्पाहार लो (अवमौदर्य); वह भी अनेक नियमो के बीच बँध कर, अनर्गल नही (वृत्तिपरिसख्यान); और जहाँ तक बन सके नीरस हो क्योंकि सरस आहार गृद्धता बढाता है, पर शारीरिक आवश्यकता की पूर्त्ति करने वाला होना चाहिए, अत सभी रसो का सदा त्याग नही किन्तु बदल-बदल कर विभिन्न रसो का विभिन्न समयो पर त्याग हो, जिससे शरीर की आवश्यकता-पूर्त्ति भी होती रहे और जिह्वा की लोलुपता पर भी प्रतिबन्ध रहे (रसपरित्याग)।

इससे स्पष्ट है कि तप शरीर के सुखाने का नाम नही, इच्छाओ के निरोध का नाम है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि अनशन से ऊनोदर अधिक महत्त्वपूर्ण क्यो है? जबकि अनशन मे भोजन किया ही नही जाता और ऊनोदर मे दिन मे एक बार भूख से कम खाया जाता है।

अन्य कार्यो मे उलझे रहकर भोजन के पास फटकना ही नही की अपेक्षा निर्विघ्न भोजन की प्राप्ति हो जाने पर उसका स्वाद चख लेने

पर भी अधपेट रह जाने में – बीच में ही भोजन छोड़ देने में इच्छा का निरोध अधिक है।

इसीप्रकार भोजन को जाना ही नही अलग बात है, किन्तु जाकर भी अटपटे नियमो के अनुसार भोजन न मिलने पर भोजन नही करना अलग बात है। उससे इसमें इच्छा-निरोध अधिक है। तथा सरस भोजन की प्राप्ति होने पर भी नीरस भोजन करना – उससे भी अधिक इच्छा निरोध की कसौटी है।

अनशन में इच्छाओं की अपेक्षा पेट का निरोध अधिक है। ऊनोदरादि में क्रमश: पेट के निरोध की अपेक्षा इच्छाओ का निरोध अधिक है। अतः अनशनादि की अपेक्षा आगे-आगे के तप अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। हमने पेट के काटने को तप मान लिया है जबकि आचार्यों ने इच्छाओं के काटने को तप कहा है।

उक्त तपों में शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुये रसनेन्द्रिय पर पूरा-पूरा अनुशासन रखा गया है। उन्होने जीवन भर किसी रस विशेष का त्याग करने की अपेक्षा बदल-बदल कर रसों के त्याग पर बल दिया। रविवार को नमक नही खाना, बुधवार को घी नही खाना आदि रसियो की कल्पना में यही भावना काम करती है। एक रस छह दिन खाने और एक दिन नही खाने से शरीर के लिए आवश्यक तत्त्वों की कमी भी नही होगी और स्वाद की प्रमुखता भी समाप्त हो जावेगी।

कोई व्यक्ति यदि जीवन भर को नमक या घी छोड़ देता है तो प्रारम्भ के कुछ दिनो तक तो उसे भोजन बेस्वाद लगेगा, परन्तु बाद में उसी भोजन में स्वाद आने लगेगा; शरीर में उस तत्त्व की कमी हो जाने से स्वास्थ्य मे गड़बडी हो सकती है। किन्तु छह दिन खाने के बाद यदि एक दिन घी या नमक न भी खावे तो शारीरिक क्षति बिल्कुल न होगी और भोजन बेस्वाद हो जावेगा; अतः रसना पर अंकुश रहेगा।

एक मुनिराज ने एक माह का उपवास किया। फिर आहार को निकले। निरंतराय आहार मिल जाने पर भी एक ग्रास भोजन लेकर वापिस चले गये। फिर एक माह का उपवास कर लिया। यह ऊनोदर का उत्कृष्ट उदाहरण है।

अज्ञानी कहता है कि जब दो माह का ही उपवास करना था तो फिर एक ग्रास भोजन करके भोजन का नाम ही क्यो किया ? नहीं करते तो दो माह का रिकार्ड बन जाता ।

अज्ञानी सदा रिकार्ड बनाने के जोड-तोड़ मे ही रहता है । धर्म के लिए – तप के लिए रिकार्ड की आवश्यकता नही । रिकार्ड से तो मान का पोषरण होता है । मान का अभिलाषी रिकार्ड बनाने के चक्कर में रहता है । धर्मात्मा को रिकार्ड की क्या आवश्यकता है ? मुनिराज ने भोजन को जाकर उपवास नही तोडा; उससे हो जाने वाले मान को तोडा है । एक माह बाद भोजन को इसलिए गये कि वे जानना चाहते थे कि जिस इच्छा को मारने के लिये उन्होने उपवास किया है, वह मरी या नही, कमजोर हुई या नहीं ? निरतराय आहार मिलने पर भी एक ग्रास लेकर छोड आये, जिससे पता लगा कि इच्छा का बहुत-कुछ निरोध हो गया है ।

निर्दोष एकान्त स्थान मे प्रमादरहित सोने-बैठने की वृत्ति विविक्तशय्यासन तथा आत्मसाधना एवं आत्माराधना मे होने वाले शारीरिक कष्टों की परवाह नही करना कायक्लेश तप है । इनमे ध्यान रखने की बात यह है कि काय को क्लेश देना तप नही है, वरन् कायक्लेश के कारण आत्माराधना मे शिथिल नही होना मुख्य बात है ।

इच्छाओ का निरोध होकर वीतराग भाव की वृद्धि होना तप का मूल प्रयोजन है । कोई भी तप जब तक उक्त प्रयोजन की सिद्धि करता है, तब तक ही वह तप है ।

यह तो सामान्यरूप से बाह्य तपो की सक्षिप्त चर्चा हुई । इनमे प्रत्येक पृथक्-पृथक् विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रखता है, किन्तु इसके लिए यहाँ अवकाश नही है । अब थोडे रूप मे कतिपय अन्तरग तपों पर विचार अपेक्षित है ।

जिन अतरग तपो के संबध मे बहुत भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित है, उनमे विनयतप भी एक है ।

जब भी विनयतप की चर्चा चलती है तब-तब वर्त्तमान मे प्रचलित अनुशासनहीनता को कोसा जाने लगता है । नवीन पीढी के विरुद्ध शिकायतें की जाती है । उन्हे उपदेश दिया जाने लगता है कि आज के बच्चो मे विनय तो रही ही नही । ये लोग न अध्यापक के पैर छुएँगे, न माता-पिता के, आदि न जाने क्या-क्या कहा जाता है ?

मैं यह नहीं कहता कि माता-पिता की विनय नही करना चाहिए। माता-पिता आदि गुरुजनों की यथायोग्य विनय तो की ही जानी चाहिए। मेरा कहना तो यह है कि माता-पिता की विनय, विनयतप नही है। क्योंकि तप मुनियों के होता है और मुनि बनने के पहले ही माता-पिता का त्याग हो जाता है।

माता-पिता आदि की विनय लौकिक विनय है और विनयतप में अलौकिक अर्थात् धार्मिक-आध्यात्मिक विनय की बात आती है।

विनयतप चाहे जहाँ माथा टेक देने वाले तथाकथित दीन गृहस्थों के नही, पंचपरमेष्ठी के अतिरिक्त कही भी नही नमने वाले मुनिराजों के होता है।

बिना विचारे जहाँ-तहाँ नमने का नाम विनयतप नही, वैनेयिक-मिथ्यात्व है। विनय अपने-आप में अत्यन्त महान आत्मिक दशा है। सही जगह होने पर जहाँ वह तप का रूप धारण कर लेती है, वही गलत जगह की गई विनय अनत ससार का कारण बनती है।

विनय सबसे बडा धर्म, सबसे बडा पुण्य, एव सबसे बड़ा पाप भी है। विनय तप के रूप में सबसे बडा धर्म, सोलहकारण भावनाओं मे विनयसम्पन्नता के रूप मे तीर्थंकर प्रकृति के बंध का कारण होने से सबसे बड़ा पुण्य, और विनयमिथ्यात्व के रूप मे अनंत संसार का कारण होने से सबसे बड़ा पाप है।

विनय के प्रयोग में अत्यन्त सावधानी आवश्यक है। कही ऐसा न हो कि आप जिसे विनयतप समझकर कर रहे हो, वह विनय-मिथ्यात्व हो। इसका ध्यान रखिए कि कही आप विनयतप या विनय-सम्पन्नता भावना के नाम पर विनयमिथ्यात्व का पोषण कर अनंत संसार तो नही बढा रहे हैं?

विनय का यदि सही स्थान पर प्रयोग हुआ तो तप होने से कर्म को काटेगी, किन्तु गलत स्थान पर प्रयुक्त विनय मिथ्यात्व होने से धर्म को ही काट देती है। यह एक ऐसी तलवार है जो चलाई तो अपने माथे पर जाती है और काटती है शत्रुओ के माथो को, पर सही प्रयोग हुआ तो। यदि गलत प्रयोग हुआ तो अपना माथा भी काट सकती है। अतः इसका प्रयोग अत्यन्त सावधानी से किया जाना चाहिए।

अपना माथा कोई सडा नारियल नही जो चाहे जहाँ फोड़ दिया जाय। कहाँ झुकना और कहाँ नही झुकना – इसका भी जिसको विवेक नही है वह सही जगह झुककर भी लाभ नही उठा सकता। क्योकि विवेकपूर्वक किया गया आचरण ही सफल होता है। आचार्य समन्तभद्र ने परीक्षा किए विना आप्त को भी नमस्कार नही किया।

जिसने अपने माथे की कीमत नही की, उसकी जगत मे कौन कीमत करेगा ? नमना, झूंठी प्रशसा करना आज व्यवहार वन गया है। मैं दूसरो की विनय या प्रशंसा करूँगा तो दूसरे मेरी विनय व प्रशंसा करेंगे – इस लोभ से नमने वालो एव प्रशसा करने वालो की क्या कीमत है ? अरे भाई ! जगत से क्या प्रशसा चाहना ? भगवान की वाणी मे जिसके लिए 'भव्य' शव्द भी आ गया वह धन्य है, इससे बड़ी प्रशंसा और क्या होगी ?

'क्या कहा' – इसकी कीमत नही; 'किसने कहा' – इसकी कीमत है। भगवान ने यदि 'भव्य' कहा तो इससे महान अभिनन्दन और क्या होगा ? भगवान की वाणी मे 'भव्य' आया तो मोक्ष प्राप्त होने की गारटी हो गई। पर इस मूर्ख जगत ने यदि भगवान भी कह दिया तो उसकी क्या कीमत ? स्वभाव से तो सभी भगवान हैं, पर जो पर्याय से भी वर्त्तमान मे हमें भगवान कहता है, उसने हमे भगवान नही बनाया वरन् अपनी मूर्खता व्यक्त की है।

विनय बहुत ऊँची चीज है, उसे इतने नीचे स्तर पर नही लाना चाहिए। भाई साहब ! विनय तो वह तप है जिससे निर्जरा और मोक्ष होता है, वह क्या चापलूसी से हो सकता है ? नही, कदापि नही।

यदि मात्र चरणो मे झुकने और नमस्ते करने का नाम विनय-तप होता तो फिर देवता इसके लिए क्यो तरसते, उन्हे किसी के सामने नमने मे क्या दिक्कत थी ? फिर शास्त्रकार यह क्यो कहते हैं कि उनके तप नही है ?

माँ-वाप के सामने झुकने का नाम तो विनयतप है ही नही, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के सामने झुकने का नाम भी निश्चय से विनयतप नही है – उपचारविनय है।

विनयतप चार प्रकार का होता है :–

(१) ज्ञानविनय, (२) दर्शनविनय, (३) चारित्रविनय और (४) उपचारविनय।

उपचारविनय में कुछ लोग माता-पिता आदि लौकिकजनों की विनय को लेते हैं पर यह ठीक नही है।

ज्ञानविनय निश्चयविनय है और ज्ञानी की विनय उपचारविनय है, दर्शनविनय निश्चयविनय है और सम्यग्दृष्टि की विनय उपचार-विनय है, चारित्र की विनय निश्चयविनय है और चारित्रवतो की विनय उपचारविनय है। इसप्रकार ज्ञान-दर्शन-चारित्र की विनय निश्चयविनय और इनके धारक देव-गुरुओ की विनय उपचार-विनय है।

विनयतप तपधर्म का भेद है, अतः इसका उपचार भी धर्मात्माओ में ही किया जा सकता है; लौकिक जनो मे नही।

किसी के चरणो में मात्र माथा टेक देने का नाम विनयतप नही है। वाहर से तो मायाचारी जितना नमता है – हो सकता है असली विनयवान उतना नमता दिखाई न भी दे। यहाँ बाह्य विनय की बात नही, अतरंग वहुमान की बात है; विनय अंतरग तप है। बाहर से नमने वालों की फोटू खीची जा सकती है, अंतरंग वालो की नही। ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अन्तर मे अनन्त वहुमान के भाव और उनकी पूर्णता को प्राप्त करने के भाव का नाम विनयतप है।

वाहर से नमनेरूप विनय तो कभी-कभी ही देखी जा सकती है, पर वहुमान का भाव तो सदा रहता है। अत. ज्ञान-दर्शन-चारित्र के प्रति अत्यन्त महिमावंत मुनिराजो के विनयतप सदा ही रहता है।

वैयावृत्यतप के सम्वन्ध मे भी जगत मे कम भ्रान्त धारणाएँ नही हैं। तपस्वी साधुओं की सेवा करने, पैर दवाने आदि को ही वैयावृत्य समझा जाता है।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि वैयावृत्ति करना तप है या कराना अर्थात् दूसरो के पैर दावना तप है या दूसरो से पैर दववाना तप है? यदि पैर दावना तप है तो फिर पैर दाबने वाले गृहस्थ के तप हुआ, दववाने वाले मुनिराज के नही; जवकि तपस्वी मुनिराज को कहा जाता है। ये वारह तप हैं भी मुख्यतः मुनिराजों के ही।

यदि आप यह कहे कि पैर दबवाना तप है तो फिर ऐसा तप किसे स्वीकार न होगा? दूसरे हमारी सेवा करे और सेवा करवाने से हम तपस्वी हो जावें, इससे अच्छा और क्या होगा?

विना विचारे हम सब पैर दबाते आ रहे है और मानते आ रहे हैं कि हम वैयावृत्ति कर रहे हैं, इसका फल हमे अवश्य मिलेगा। साथ ही यह भी मानते आ रहे हैं कि वैयावृत्यतप मुनियों के होता है।

वैयावृत्ति का अर्थ सेवा होता है – यह सही है। पर सेवा का अर्थ पैर दबाना हमने लगा लिया है। वैयावृत्ति में पैर भी दबाये जाते हैं, पर पैर दबाना ही मात्र वैयावृत्ति नही है। सेवा स्व और पर दोनों की होती है। वास्तविक सेवा तो स्व और पर को आत्महित मे लगाना है। आत्महित एकमात्र शुद्धोपयोगरूप दशा मे है। शुद्धोपयोगरूप रहने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना ही वास्तविक वैयावृत्ति है।

यदि रोग आदि के कारण अपना या दूसरे साथी मुनिराज का चित्त स्थिरता को प्राप्त न हो पा रहा हो तो 'पैर दबाना' आदि के द्वारा उनके चित्त को स्थिरता प्रदान करना भी वैयावृत्ति है; किन्तु बिना किसी कारण आराम से पैर दबाते-दबवाते रहना कभी वैयावृत्ति नही हो सकती। और हो भी तो वह तप नही; अन्तरग तप तो कदापि नही।

यदि कोई मुनिराज भयंकर पीड़ा से कराह रहे हैं, उनका चित्त स्थिर नही हो पा रहा है; ऐसी स्थिति मे उन्हे कोरा उपदेश देने पर उनके परिणामों में स्थिरता आना सम्भव नही है। पर यदि उनकी सेवा करते हुए उन्हे सम्बोधित किया जाय तो स्थिरता शीघ्र प्राप्त हो सकती है। एकमात्र यही कारण है जिससे शारीरिक सेवा को वैयावृत्यतप मे स्थान प्राप्त है।

विनय और वैयावृत्यतप के वारे मे विचार करते समय हमे यह नही भूलना चाहिये कि ये अन्तरग तप हैं, वाह्यप्रवृत्तिमात्र से इनको जोड़ना ठीक नही।

स्वाध्याय भी अतरंग तप है। स्वाध्याय को परमतप कहा गया है (स्वाध्याय परम तपः)। पर आज तो हम प्रात. उठकर सबसे पहिले समाचार-पत्रो का स्वाध्याय करने लगे है!

यहाँ-वहाँ का कुछ भी पढ़ लेना स्वाध्याय नही है, आत्महितकारी शास्त्रो का अध्ययन-मनन-चिन्तन भी उपचार से स्वाध्याय है। वास्तविक स्वाध्याय तो आत्मज्ञान का प्राप्त होना ही है। स्व+अधि+अय=स्वाध्याय। 'स्व' माने निज का, 'अधि' माने ज्ञान और 'अय' माने प्राप्त होना – इसप्रकार निज का ज्ञान प्राप्त होना ही स्वाध्याय है; पर का ज्ञान तो पराध्याय है।

यद्यपि स्वाध्याय के भेदो में वांचना, पृच्छना आदि आते हैं तथापि यद्वा-तद्वा कुछ भी वाँचना, पूछना स्वाध्याय नही है। क्या बाँचना ? कैसे बाँचना ? क्या पूछना ? किससे पूछना ? कैसे पूछना ? आदि विवेकपूर्वक किये गये वाँचना, पृच्छना आदि ही स्वाध्याय कहे गये हैं।

मंदिर मे गये, जो भी शास्त्र हाथ लगा, उसी की – जहाँ से खुल गया दो चार पंक्तियाँ खड़े-खड़े पढली और स्वाध्याय हो गया, वह भी इसलिये कि महाराज प्रतिज्ञा लिवा गये थे कि 'प्रतिदिन स्वाध्याय अवश्य करना' – यह स्वाध्याय नही है।

हमे आध्यात्मिक ग्रथो के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढने की है। ऐसे बहुत कम लोग होगे जिन्होने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नही, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेगे जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हो। आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ भी नही सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे सभव है ? जब हमारी इतनी भी रुचि नही कि उसे अखण्डरूप से पढ भी सकें तो उसमे प्रतिपादित अखण्ड वस्तु का अखण्ड स्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति मे कैसे आवे ?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नही छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं, उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन मे भी कभी भोजन को भूले हैं ? यदि नही, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नही जितनी विषय-कषाय मे है।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के नियमानुसार हमारी सम्पूर्ण शक्ति वही लगती है, जहाँ रुचि होती है। स्वाध्यायतप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिए हमे आध्यात्मिक साहित्य मे अनन्य रुचि जागृत करनी होगी।

स्वाध्यायतप के पाँच भेद किये गये हैं :–

(१) वाँचना, (२) पृच्छना (पूछना), (३) अनुप्रेक्षा (चिन्तन), (४) आम्नाय (पाठ) और (५) धर्मोपदेश।

इनमे स्वाध्याय की प्रक्रिया का क्रमिक विकास लक्षित होता है।

प्रथम, तत्त्वनिरूपक-आध्यात्मिक ग्रन्थों को वाचना और अपनी बुद्धि से जितना भी मर्म निकाल सके, पूरी शक्ति से निकालना – 'बांचना स्वाध्याय' है।

उसके वाद भी यदि कुछ समझ मे न आवे तो समझने के उद्देश्य से किसी विशेष ज्ञानी से विनयपूर्वक पूछना – 'पृच्छना स्वाध्याय' है।

जो वाँचा है उस पर तथा पूछने पर ज्ञानी महापुरुष से जो उत्तर प्राप्त हुआ हो, उस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना, चिन्तन करना – 'अनुप्रेक्षा स्वाध्याय' है।

वाँचना, पृच्छना, और अनुप्रेक्षा के वाद निर्णीत विषय को स्थिर धारणा के लिए वारम्वार घोखना, पाठ करना–'आम्नाय स्वाध्याय' है।

वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय (पाठ) के वाद जब विषय पर पूरा-पूरा अधिकार हो जावे तव उसका दूसरे जीवों के हितार्थ उपदेश देना – 'धर्मोपदेश' नाम का स्वाध्याय है।

उक्त विवेचन से निश्चित होता है कि मात्र वाँचना ही स्वाध्याय नही, आत्महित की दृष्टि से समझने के लिए पूछना भी स्वाध्याय है, चिन्तन और पाठ भी स्वाध्याय है, यहाँ तक कि यशादि के लोभ के विना स्व-परहित की दृष्टि से किया गया धर्मोपदेश भी स्वाध्यायतप में आता है।

पर इनमे एक क्रम है। आज हम उस क्रम को भूल गये हैं। हम शास्त्रों को वाँचे विना ही पूछना आरम्भ कर देते है। यही कारण है कि हमारे प्रश्न ऊटपटांग होते है। जव तक किसी विषय का स्वय गंभीर अध्ययन नही किया जायगा तव तक तत्संबंधित गंभीर प्रश्न भी कहाँ से आवेंगे ?

वहुत से प्रश्न दूसरो की परीक्षा के लिए भी किये जाते हैं। वे 'पृच्छना स्वाध्याय' मे नही आते। जो निरन्तर दूसरो की वुद्धि परखने के लिए ही प्रश्न उछाला करते हैं, उनको लक्ष्य करके महाकवि वनारसीदासजी ने लिखा है :–

'परनारी सग परबद्धि कौ परखिवौ'[1]

अपनी जिज्ञासा शान्त करने के लिये ही विनयपूर्वक प्रश्न किये जाने चाहिये। उद्दण्डतापूर्वक वक्ता का गला पकड़ने की कोशिश करना स्वाध्यायतप तो है ही नही, जिनवाणी की विराधना का अधम कार्य है।

---

[1] बनारसीदास . नाटक समयसार. साध्य-साधकद्वार, छन्द २६

चिन्तन तो हमारे जीवन से समाप्त ही हो रहा है। पाठ भी किया जाता है, पर बिना समझे मात्र दुहराना होता है; दुहराना भी सही रूप से कहाँ हो पाता है ?

भक्तामर और तत्त्वार्थसूत्र का नित्य पाठ सुनने वाली बहुतसी माता-बहिनों को उनमे प्रतिपादित विषयवस्तु की बात तो बहुत दूर, उसमे कितने अध्याय है – इतना भी पता नही होता है। किन्ही महाराज से प्रतिज्ञा ले ली है कि सूत्रजी का पाठ सुने बिना भोजन नही करूँगी – सो उसे ढोये जा रही है।

वास्तविक 'पाठ' तो वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षापूर्वक होता है। विषय का मर्म ख्याल मे आ जाने के बाद उसे धारणा मे लेने के उद्देश्य से 'पाठ' किया जाता है।

उपदेश का क्रम सबसे अन्त मे आता है, पर आज हम उपदेशक पहिले बनना चाहते है – बाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा और आम्नाय के बिना ही। धर्मोपदेश के सुनने वाले भी इसके प्रति सावधान नही दिखाई देते। धर्मोपदेश के नाम पर कोई भी उन्हे कुछ भी सुना दे; उन्हे तो सुनना है, सो सुन लेते हैं। वक्ता और वक्तव्य पर उनका कोई ध्यान ही नही रहता।

मैं एक बात पूछता हूँ कि यदि आपको पेट का ऑपरेशन कराना हो तो क्या बिना जाने चाहे जिससे करा लेंगे ? डॉक्टर के बारे मे पूरी-पूरी तपास करते हैं। डॉक्टर भी जिस काम में माहिर न हो, वह काम करने को सहज तैयार नही होता। डॉक्टर और ऑपरेशन की बात तो बहुत दूर, यदि हम कुर्त्ता भी सिलाना चाहते है तो होशियार दर्जी तलाशते है, और दर्जी भी यदि कुर्त्ता सीना नही जानता हो तो सीने से इन्कार कर देता है। पर धर्म का क्षेत्र ऐसा खुला है कि चाहे जो बिना जाने-समझे उपदेश देने को तैयार हो जाता है और उसे सुनने वाले भी मिल ही जाते है।

वस्तुत. बात यह है कि धर्मोपदेश देने और सुनने को हम गभीररूप से ग्रहण ही नही करते, यों ही हलके-फुलके निकाल देते है। अरे भाई ! धर्मोपदेश भी एक तप है, वह भी अंतरग; इसे आप खेल समझ रहे हैं। इसकी गंभीरता को जानिए – पहचानिए। उपदेश देने-लेने की गभीरता को समझिये, इसे मनोरंजन और समय काटने की चीज मत बनाइये। यह मेरा विनम्र अनुरोध है।

जिनवाणी के योग्य वक्ता तथा श्रोताओंका सही स्वरूप महापडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्गप्रकाशक के प्रथम अधिकार मे विस्तार से स्पष्ट किया है। जिज्ञासु पाठक तत्सवधी जिज्ञासा वहाँ से शान्त करे।

स्वाध्याय एक ऐसा तप है कि अन्य तपो मे जो लाभ है वे तो इसमे हैं ही, साथ मे यह ज्ञानवृद्धि का भी एक अमोघ उपाय है। इसमे कोई विशेष कठिनाई व प्रतिवध भी नही है। चाहे जव कीजिए – दिन को, रात को; स्त्री-पुरुष, वाल-वृद्ध-युवक सभी करे। एक वार नियमित स्वाध्याय करके तो देखिये, इसके असीम लाभ से आप स्वय भली-भाँति परिचित हो जावेगे।

प्रमाद व अज्ञान से लगे दोषों की शुद्धि के लिए आत्म-आलोचना, प्रतिक्रमणादि द्वारा प्रायश्चित्त करना प्रायश्चित्ततप है।

वाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्याग को व्युत्सर्गतप कहते है। इसकी विस्तृत चर्चा त्याग व आकिंचन्य धर्म मे आगे विस्तार से होगी ही।

अव रही वात ध्यान की। सो ध्यान तो सर्वोत्कृष्ट तप है। ध्यान की अवस्था मे ही सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। यहाँ ध्यान से तात्पर्य आर्त्त-रौद्रध्यान से नही, शुभभावरूप धर्मध्यान से भी नही; वल्कि उस शुद्धोपयोगरूप ध्यान से है जो कर्म-ईंधन को जलाने मे अग्नि का काम करता है, जिसकी परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के नववे अध्याय मे इसप्रकार दी है :–

'उत्तमसहननस्यैकाग्रचितानिरोधो ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' ।।२७।।

वैसे तो दुकानदार ग्राहक का, डॉक्टर मरीज का, पति पत्नी का निरन्तर ही ध्यान करते हैं। पर मात्र चित्त का एक ओर ही एकाग्र हो जाना ध्यानतप नही है, वरन् 'स्व' मे एकाग्र होना ध्यानतप है। भले ही पर मे एकाग्र होना भी ध्यान हो, पर ध्यानतप नही। ध्यान-तप तो समस्त 'पर' एव विषय-विकारो से चित्त को हटाकर एक आत्मा मे स्थिर होना ही है। यदि शुद्धोपयोगरूप ध्यान की दशा एक अन्तर्मुहूर्त्त भी रह जावे तो केवलज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।

समस्त तपों का सार ध्यानतप है, इसकी सिद्धि के लिए ही शेष सव तप हैं।

इस परम पवित्र ध्यानतप को पाकर सभी आत्माएँ शीघ्र परमात्मा वने – इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

उत्तमत्याग

उत्तमत्यागधर्म की चर्चा जब भी चलती है तब-तब प्राय. दान को ही त्याग समझ लिया जाता है। त्याग के नाम पर दान के ही गीत गाये जाने लगते हैं, दान की ही प्रेरणाएँ दी जाने लगती हैं।

सामान्यजन तो दान को त्याग समझते ही है; किन्तु आश्चर्य तो तब होता है जब उत्तमत्यागधर्म पर वर्षों व्याख्यान करने वाले विद्वज्जन भी दान के अतिरिक्त भी कोई त्याग होता है – यह नही समझाते या स्वय भी नही समझ पाते।

यद्यपि जिनागम मे दान को भी त्याग कहा गया है, दान देने की प्रेरणा भी भरपूर दी गई है, दान की भी अपनी एक उपयोगिता है, महत्त्व भी है; तथापि जब गहराई मे जाकर निश्चय से विचार करते है तो दान और त्याग मे महान अन्तर दिखाई देता है। दान और त्याग बिल्कुल भिन्न-भिन्न दो चीजें प्रतीत होती हैं।

त्याग धर्म है, और दान पुण्य। त्यागियो के पास रचमात्र भी परिग्रह नही होता, जबकि दानियो के पास ढेर सारा परिग्रह पाया जा सकता है।

त्याग की परिभाषा श्री प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति नामक टीका (गाथा २३९) मे आचार्य जयसेन ने इसप्रकार दी है :–

'निजशुद्धात्मपरिग्रहं कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्याग.।'

निज शुद्धात्म के ग्रहणपूर्वक बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह से निवृत्ति त्याग है।

इसी बात को बारस-अणुवेक्खा (द्वादशानुप्रेक्षा) मे इसप्रकार कहा गया है :–

णिव्वेगतिय भावइ मोहं चइऊण सव्व दव्वेसु।
जो तस्स हवेच्चागो इदि भणिद जिणवरिंदेहि ॥७८॥

जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि जो जीव सम्पूर्ण परद्रव्यों से मोह छोडकर ससार, देह और भोगो से उदासीनरूप परिणाम रखता है; उसके त्यागधर्म होता है।

'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में अकलंक देव सचेतन और अचेतन परिग्रह की निवृत्ति को त्याग कहते हैं।[1]

उक्त कथनो से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि यद्यपि त्याग शब्द निवृत्तिसूचक है, त्याग में बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग होता है, तथापि त्यागधर्म में निजशुद्धात्मा का ग्रहण अर्थात् शुद्धोपयोग और शुद्धपरिणति भी शामिल है।

एक बात और भी स्पष्ट होती है कि त्याग परद्रव्यों का नही, अपितु अपनी आत्मा मे परद्रव्यो के प्रति होने वाले मोह-राग-द्वेष का होता है। क्योकि परद्रव्य तो पृथक् ही है, उनका तो आज तक ग्रहण ही नही हुआ है; अतः उनके त्याग का प्रश्न ही कहाँ उठता है? उन्हे अपना जाना है, माना है, उनसे राग-द्वेष किया है; अत. उन्हें अपना जानना, मानना (दर्शनमोह) एव उनके प्रति राग-द्वेष करना (चारित्रमोह) छोड़ना है।

यही कारण है कि वास्तविक त्याग पर मे नही, अपने मे – अपने ज्ञान मे होता है। यही भाव कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने समयसार मे इसप्रकार व्यक्त किया है :–

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं ॥३४॥

अपने से भिन्न समस्त परपदार्थों को 'ये पर हैं' – ऐसा जानकर जब त्याग किया जाता है तब वह प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग कहा जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुत ज्ञान ही प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग है।

त्याग ज्ञान में ही होता है अर्थात् पर को पर जानकर उससे ममत्वभाव तोडना ही त्याग है। इस बात को समयसार गाथा ३५ की आत्मख्याति टीका मे आचार्य अमृतचन्द्र ने सोदाहरण इसप्रकार स्पष्ट किया है :–

"जैसे कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझ ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी हो रहा है; किन्तु जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर पकडकर खीचता

---

[1] परिग्रहस्य चेतनाचेतनलक्षणस्य निवृत्तिस्त्यागः इति निश्चीयते।

– अध्याय ६, सूत्र ६

है और उसे नग्न कर (उघाडकर) कहता है कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले मे आ गया है, यह मेरा है सो मुझे दे दे'; तब बार-बार कहे गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह, सर्व चिन्हो से भली-भाति परीक्षा करके, 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' ऐसा जानकर, ज्ञानी होता हुआ, उस वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है।

इसीप्रकार ज्ञाता भी भ्रमवश परद्रव्य के भावो को ग्रहण करके उन्हे अपना जानकर अपने मे एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है। जब श्रीगुरु परभाव का विवेक करके उसे एक आत्मभावरूप करते है और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा वास्तव मे एकज्ञानमात्र ही है', तब बारम्बार कहे गये इस आगमवाक्य को सुनता हुआ वह, समस्त चिन्हो से भली-भांति परीक्षा करके 'अवश्य यह परभाव ही हैं' यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ, सर्व परभावो को तत्काल छोड देता है।"[1]

उक्त कथन से यह बात अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि त्याग पर को पर जानकर किया जाता है। दान में यह बात नही है। दान उसी वस्तु का दिया जाता है जो स्वयं की हो; परवस्तु का त्याग तो हो सकता है, दान नही। दूसरे की वस्तु उठाकर किसी को दे देना दान नही, चोरी है।

इसीप्रकार त्याग वस्तु को अनुपयोगी, अहितकारी जानकर किया जाता है, जबकि दान उपयोगी और हितकारी वस्तु का दिया जाता है।

उपकार के भाव से अपनी उपयोगी वस्तु पात्रजीव को दे देना दान है। दान की परिभाषा आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें अध्याय में इसप्रकार दी है :-

'अनुग्रहार्थं स्वस्यातिसर्गो दानम् ॥३८॥'

उपकार के हेतु से धन आदि अपनी वस्तु को देना सो दान है।

आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है :-

'परानुग्रहबुद्धया स्वस्यातिसर्जन दानम्'[2]

---

[1] यह आचार्य अमृतचन्द्र की सस्कृत टीका का हिन्दी अनुवाद है।

[2] अध्याय ६, सूत्र १२ की टीका

दूसरे का उपकार हो, इस बुद्धि से अपनी वस्तु का अर्पण करना दान है।

दान में परोपकार का भाव मुख्य रहता है और अपने उपकार का गौण; किन्तु त्याग में स्वोपकार ही सब-कुछ है, दूसरो के उपकार के लिए मोह-राग-द्वेष नही त्यागे जाते हैं। यह बात अलग है कि अपने त्याग से प्रेरणा पाकर या अन्य किसी प्रकार से पर का भी उपकार हो जावे।

यदि कोई दान देता है तो उसका कर्त्तव्य है कि जिस काम के लिये दान दिया है, उसकी देख-रेख भी करे। कही ऐसा तो नही हो रहा है कि आपने धर्मशाला तो यात्रियों के ठहरने के लिए बनाई है और उसे किराये से उठा दिया गया हो; आपने पैसा तो दिया प्राचीन जिनालयो के जीर्णोद्धार के लिए और उससे अधिकारियो ने अपने आराम के लिए एयरकन्डीशन लगा लिया हो; आपने पैसा तो दिया वीतरागता के प्रचार-प्रसार के लिए और उससे राग को धर्म बताकर प्रचार किया जा रहा हो; आपने पैसा तो दिया धार्मिक-नैतिक शिक्षा के लिए और उससे शिक्षा दी जा रही हो कानून की।

कुछ लोग कहते हैं कि आपने तो दान दे दिया। अब आपको क्या मतलब कि उसका क्या हो रहा है, वह कहाँ खर्च हो रहा है, उसे कौन खा रहा है? जब आपने उसे त्याग ही दिया है तो उससे फिर क्या प्रयोजन?

ऐसी बाते वही लोग करते है जो या तो दान की परिभाषा नही जानते या फिर कुछ गडबडी करना चाहते हैं, करते है; क्योकि वे चाहते हैं कि वे चाहे जो करें, उन्हे कोई टोका-टोकी न करे। जिसे सही काम करना है, जो पैसा जिस उद्देश्य से प्राप्त हुआ है – उसी मे लगाना है; उन्हे इसमे क्या ऐतराज हो सकता है कि दातार उनसे यह क्यो पूछता है कि जिस उद्देश्य से जिस कार्य के लिए उसने दान दिया था – वह हो रहा है या नही, उस उद्देश्य की पूर्त्ति हो रही है या नहीं?

वे यह भूल जाते हैं कि उसने पैसे का त्याग नही किया है, वरन् किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति के लिए दान दिया है। दान उपकार के विकल्पपूर्वक दिया जाता है, अत ज्ञानी-दानी को भी व्यवस्था देखने-जानने का सहज विकल्प आता है। ज्ञान-दान मे भी जब किसी

को कोई कुछ समझाता है तो उसे यह-सहज विकल्प आये बिना नही रहता कि सामने वाले की समझ मे आ रहा है या नही ।

दानी को पैसे से मोह छूट नही गया है, छूट गया होता तो फिर एक लाख देकर तीन लाख कमाने को क्यों जाता ? कमाने का पूरा-पूरा यत्न चालू है । इससे सिद्ध है कि पैसे के राग के त्याग के कारण दान नही दिया जा रहा है, बल्कि उपकार के भाव से दान दिया जाता है । यह बात अलग है कि उसकी लोभ कषाय कुछ मन्द अवश्य हुई है, अन्यथा दान भी सम्भव न होता; पर मन्द हुई है, अभाव नही, अभाव होता तो त्याग होता ।

मोह या राग के आंशिक अभाव मे भी त्यागधर्म प्रकट होता है । यही कारण है कि त्यागी को उसका ध्यान भी नही आता जिसे उसने त्यागा है । आना भी नही चाहिए, आवे तो त्याग कैसा ? उसे त्यागी हुई वस्तु के संभाल का भी विकल्प नही आता, क्योकि अब वह उसे अपनी मानता-जानता ही नही एवं उससे उसे राग भी नही रहा । उसका जो होना हो सो हो, उसे उससे क्या ?

चक्रवर्ती जब राज-पाट त्याग कर नग्न दिगम्बर साधु बनते हैं तो उन्हें यह चिन्ता नही सताती कि इस राज का क्या होगा ? इसे कौन सभालेगा ? यदि हो तो फिर वे त्यागी नही । उससे उन्हे क्या प्रयोजन ? उन्होने अपने हित के लिए, अपनी आत्मा की सभाल के लिए राज-पाट त्यागा है । वे यदि राज-पाट की ही चिन्ता करते रहे तो फिर उन्होंने त्यागा ही क्या है ? राज का वे करते भी क्या थे ? मात्र चिन्ता ही करते थे, सो कर ही रहे हैं ।

इसप्रकार हम देखते है कि दान मे परोपकार का भाव मुख्य रहता है और त्याग मे आत्महित का ।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जो अपना है वह दूसरो को दिया नही जा सकता, जो दिया जा सकता है वह अपना नही हो सकता; 'पर' पर है, 'स्व' स्व है, स्व का दिया जाना सभव नही और पर का ग्रहण सभव नही – एक ओर तो आप यह कहते हैं । और दूसरी ओर यह भी कहते हैं कि दान अपनी चीज का दिया जाता है – जब पर अपना है ही नही तब उसका क्या त्याग करना और जो दिया ही नही जा सकता, उसका क्या देना ? इसीप्रकार जब कोई किसी का भला-बुरा कर ही नही सकता, सब अपने भले-बुरे के कर्त्ता-धर्त्ता स्वयं हैं, तो फिर परोपकार की बात भी कहाँ ठहरती है ?

आपकी बात बिल्कुल ठीक है, पर समझने की बात यह है कि 'दान' व्यवहारधर्म है और 'त्याग' निश्चयधर्म ।

वे धनादि परपदार्थ जिन पर लौकिक दृष्टि से अपना अधिकार है, व्यवहार से अपने है, उन्हें अपना जानकर ही दान दिया जाता है । लेन-देन स्वयं व्यवहार है, निश्चय मे तो लेने-देने का कोई प्रश्न ही नही उठता । रही परपदार्थ के त्याग की बात, सो पर को पर जानना ही उनका त्याग है – इससे अधिक त्याग और क्या है ? वे तो पर हैं ही, उनको क्या त्यागें ? पर बात यह है कि उन्हें हम अपना मानते हैं, उनसे राग करते हैं; अतः उनको अपना मानना और उनसे राग करना त्यागना है । इसलिये यह ठीक ही कहा है कि पर को पर जानकर उनके प्रति राग का त्याग करना ही वास्तविक त्याग है ।

गहराई से विचार करें तो त्याग, मोह-राग-द्वेष का ही होता है; पर-पदार्थ तो मोह-राग-द्वेष के छूटने से स्वयं छूट जाते है । वे छूटे हुये ही हैं । इसीलिये भगवान को 'राग-द्वेषपरित्यागी' कहा गया है ।

यदि आप कहें कि अभी तो यह कहा था कि त्याग पर का होता है और अब कहने लगे कि त्याग मोह-राग-द्वेष का होता है ?

भाई ! आध्यात्मिक दृष्टि से मोह-राग-द्वेष भी तो पर ही हैं । यद्यपि वे आत्मा में उत्पन्न होते हैं तथापि वे आत्मा के स्वभाव नही, अत. उन्हे भी आध्यात्मिक शास्त्रों में 'पर' कहा गया है ।

जहाँ तक परोपकार की बात है, उसके सम्बन्ध में बात यह है कि यद्यपि कोई किसी का भला-बुरा नही कर सकता तथापि ज्ञानी को भी दूसरों के भले करने का भाव आये बिना रहता नहीं है, क्योंकि अभी उसके राग-भाव विद्यमान है । दूसरी बात यह है कि निःचय से कोई किसी का भला-बुरा नही कर सकता, पर व्यवहार से तो शास्त्रों में भी एक-दूसरे के भले-बुरे करने की बात कही गई है; भले ही वह कथन उपचरित हो, कथन मात्र हो, पर है तो । 'दान' व्यवहारधर्म है, अतः वह परोपकार सम्बन्धी विकल्पपूर्वक ही होता है । यही कारण है कि वह पुण्य बंध का कारण होता है, बध के अभाव का कारण नही । जो व्यक्ति उसे निश्चयधर्म मानकर बंध के अभाव (मुक्ति) का कारण मान बैठते हैं वे तो गलती करते ही हैं, साथ ही

वे भी गलती करते हैं जो उसे पुण्य बंध का कारण भी नही मानते अर्थात व्यवहारधर्म भी स्वीकार नही करते ।

त्याग खोटी चीज का किया जाता है और दान अच्छी चीज का दिया जाता है । यही कहा जाता है कि क्रोध छोड़ो, मान छोड़ो, माया छोडो, लोभ छोड़ो; यह कोई नही कहता कि ज्ञान छोड़ो। जो दु.ख-स्वरूप हैं, दु.खकर हैं, आत्मा का अहित करने वाले हैं – वे मोह-राग-द्वेष रूप आस्रवभाव ही हेय हैं, त्यागने योग्य हैं, इनका ही त्याग किया जाता है । इनके साथ ही इनके आश्रयभूत अर्थात् जिनके लक्ष्य से मोह-राग-द्वेष भाव होते हैं – ऐसे पुत्रादि चेतन एवं धन-मकानादि अचेतन पदार्थों का भी त्याग होता है । पर मुख्य बात मोह-राग-द्वेष के त्याग की ही है, क्योंकि मोह-राग-द्वेष के त्याग से इनका त्याग नियम से हो जाता है; किन्तु इनके त्याग देने पर भी यह गारण्टी नही कि मोह-राग-द्वेष छूट ही जावेंगे ।

बहुत से लोग तो त्याग और दान को पर्यायवाची ही समझने लगे हैं । किन्तु उनका यह मानना एकदम गलत है । ये दोनों शब्द पर्यायवाची तो हैं ही नही, अपितु कुछ अंशों मे इनका भाव परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध पाया जाता है ।

यदि ये दोनों शब्द एकार्थवाची होते तो एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग आसानी से किया जा सकता था । किन्तु जब हम इस प्रकार का प्रयोग करके देखते हैं तो अर्थ एकदम बदल जाता है । जैसे दान चार प्रकार का कहा गया है – (१) आहारदान, (२) औषधिदान, (३) ज्ञानदान और (४) अभयदान ।

अब जरा उक्त चारों शब्दों में 'दान' के स्थान पर 'त्याग' शब्द का प्रयोग करके देखे तो सारी स्थिति स्वयं स्पष्ट हो जाती है ।

क्या आहारदान और आहारत्याग एक ही चीज है ? इसी प्रकार क्या औषधिदान और औषधित्याग को एक कहा जा सकता है ?

नही, कदापि नही; क्योंकि आहारदान और औषधिदान में दूसरे पात्र-जीवों को भोजन और औषधि दी जाती है, जबकि आहार-त्याग और औषधित्याग में आहार और औषधि का स्वयं सेवन करने का त्याग किया जाता है । आहारत्याग और औषधित्याग में किसी को कुछ देने का सवाल ही नही उठता । इसीप्रकार आहारदान

और औषधिदान में आहार और औषधि के त्यागने का (नही खाने का) भी प्रश्न नही उठता ।

आहारदान दीजिए और स्वयं भी खूब खाइये, कोई रोक-टोक नही; पर आहार का त्याग किया तो फिर खाना-पीना नही चलेगा ।

आहार और औपधि के सम्बन्ध में कही कुछ अधिक अटपटा नही भी लगे, किन्तु जव 'ज्ञानदान' के स्थान पर 'ज्ञानत्याग' शब्द का प्रयोग किया जाए तो वात एकदम अटपटी लगेगी । क्या ज्ञान का भी त्याग किया जाता है ? क्या ज्ञान भी त्यागने योग्य है ? क्या ज्ञान का त्याग किया भी जा सकता है ?

इसीप्रकार की वात अभयदान और अभयत्याग के वारे मे समझना चाहिए ।

एक वात और भी समझ लीजिये । दान में कम से कम दो पार्टी चाहिए और दोनों को जोडने वाला माल भी चाहिए । आहार देने वाला, आहार लेने वाला और आहार; औषधि देने वाला, औपधि लेने वाला और औषधि – इन तीनो के विना आहारदान या औपधि-दान सभव नही है । यदि लेने वाला नही तो देंगे किसे ? यदि वस्तु न हो तो देंगे क्या ? पर त्याग के लिए कुछ नही चाहिये । जो अपने पास नही है – त्याग उसका भी किया जा सकता है । जैसे 'मै शादी नही करूँगा' इसमे किस वस्तु का त्याग हुआ ? शादी का । लेकिन शादी की ही कहाँ है ? जव शादी की ही नही तो त्याग किसका ? करने के भाव का ।

इसीप्रकार सर्व परिग्रह का त्याग होता है, पर सर्व परपदार्थरूप परिग्रह है कहाँ हमारे पास ? अत: उसके ग्रहण करने के भाव का ही त्याग होता है ।

त्याग के लिए हम पूर्णत: स्वतन्त्र है । उसमे हम जिसे त्यागें, उसे लेने वाला नही चाहिए, वस्तु भी नही चाहिए ।

इसप्रकार हम देखते है कि दान एक पराधीन क्रिया है, जवकि त्याग पूर्णत स्वाधीन । जो क्रिया दूसरो के विना सम्पन्न न हो सके, वह धर्म नही हो सकती । धर्म पर के संयोग का नाम नही, अपितु वियोग का है । कम से कम त्यागधर्म में तो पर के संयोग की अपेक्षा सम्भव नही है, त्याग शब्द ही वियोगवाची है । यद्यपि इसमे शुद्धपरिणति सम्मिलित है, परन्तु पर का संयोग विल्कुल नही ।

कुछ वस्तुऐं ऐसी हैं जिनका त्याग होता है, दान नही। कुछ ऐसी हैं जिनका दान होता है, त्याग नही। कुछ ऐसी भी हैं जिनका दान भी होता है और त्याग भी। जैसे – राग-द्वेष, माँ-बाप, स्त्री-पुत्रादि को छोडा जा सकता है, उनका दान नही दिया जा सकता; ज्ञान और अभय का दान दिया जा सकता है, पर वे त्यागे नहीं जाते; तथा औषधि, आहार, रुपया-पैसा आदि का त्याग भी हो सकता है और दान भी दिया जा सकता है।

शास्त्रों में कही-कही त्याग और दान शब्दों का एक अर्थ में भी प्रयोग हुआ है। इस कारण भी इन दोनों के एकार्थवाची होने के भ्रम फैलने में वहुत कुछ सहायता मिली है। शास्त्रों मे जहाँ इसप्रकार के प्रयोग है वहाँ वे इस अर्थ में हैं – निश्चयदान अर्थात् त्याग और व्यवहारत्याग अर्थात् दान। जब वे दान कहते हैं तो उसका अर्थ सिर्फ दान होता है और जव निश्चयदान कहते हैं तो उसका अर्थ त्यागधर्म होता है। इसीप्रकार जब वे त्याग कहते हैं तो उसका अर्थ त्यागधर्म होता है और जब व्यवहारत्याग कहते हैं तो उसका अर्थ दान होता है।

इसप्रकार का प्रयोग दशलक्षण पूजन में भी हुआ है। उसमें कहा है :–

उत्तम त्याग कह्यो जग सारा, औषधि शास्त्र अभय आहारा।
निश्चय राग-द्वेष निरवारे, ज्ञाता दोनो दान संभारे॥

यहाँ ऊपर की पंक्ति मे जहाँ उत्तम त्यागधर्म को जगत मे सारभूत वताया गया है वही साथ में उसके चार भेद भी गिना दिये जो कि वस्तुतः चार प्रकार के दान है और जिनकी विस्तार से चर्चा की जा चुकी है।

अब प्रश्न उठता है कि ये चार दान क्या त्यागधर्म के भेद हैं ? पर नीचे की पक्ति पढते ही सारी वात स्पष्ट हो जाती है। नीचे की पंक्ति में साफ-साफ लिखा है कि निश्चयत्याग तो राग-द्वेष का अभाव करना है। यद्यपि ऊपर की पंक्ति मे व्यवहार शब्द का प्रयोग नही है, तथापि नीचे की पंक्ति मे निश्चय का प्रयोग होने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऊपर जो वात है वह व्यवहारत्याग अर्थात् दान की है। आगे और भी स्पष्ट है कि 'ज्ञाता दोनों दान संभारे' अर्थात् ज्ञानी आत्मा निश्चय और व्यवहार दोनो को सम्भालता है। 'दोनों दान' शब्द सब कुछ स्पष्ट कर देता है।

पहली पंक्ति पढ़ते ही ऐसा लगता है कि कवि बात तो त्यागधर्म की कर रहा है और भेद दान के गिना दिए हैं। पर ऐसा नही कि कवि के ध्यान में यह बात न हो। क्योकि अगली पंक्ति में ही सब कुछ स्पष्ट हो जाता है कि कवि वीतराग भावरूप त्यागधर्म को निश्चयदान या निश्चयत्याग एवं आहारादि के देने को व्यवहारदान या व्यवहारत्याग शब्द से अभिहित कर रहा है।

'धनि साधु शास्त्र अभय दिवैया, त्याग राग-विरोध को'।

पूजन की इस पंक्ति में शास्त्र और अभय के साथ 'दिवैया' शब्द का प्रयोग एवं राग-विरोध के साथ 'त्याग' शब्द का प्रयोग यह बताता है कि शास्त्र और अभय का दान होता है और राग-द्वेष का त्याग होता है। तथा 'धनि साधु' कह कर यह स्पष्ट कर दिया है कि ये साधु के धर्म हैं। आहार और औषधि को जानबूझकर छोड दिया गया है, क्योंकि वे साधु द्वारा देना संभव नही हैं।

इसीप्रकार के प्रयोग अन्यत्र भी देखे जा सकते हैं। अत. शास्त्रों के अर्थ समझने में बहुत सावधानी रखना जरूरी है, अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

एक बात और भी ध्यान देने योग्य है कि यदि आहारादि देने को ही त्यागधर्म मानेंगे तो फिर एक समस्या और खड़ी हो जावेगी। वह यह कि यहाँ जो उत्तमक्षमादि धर्मों का वर्णन चल रहा है, वह मुख्यतः मुनियों की अपेक्षा किया गया है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में दशधर्म की चर्चा गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परिषहजय और चारित्र के साथ की गई है। ये सब मुनिधर्म के ही रूप हैं।

यदि आहारादि देने का नाम त्यागधर्म है तो फिर मुनिराज तो आहार लेते हैं, देते नही; देते तो श्रावक हैं। अतः फिर त्यागधर्म मुनिराजों की अपेक्षा श्रावकों के विशेष मानना होगा जो कि संभव नही है। अतः वस्तुतः तो राग-द्वेषादि विकारो के त्याग का ही नाम उत्तमत्यागधर्म है। मुनियों के अनर्गल आहारादि के त्यागरूप त्याग-धर्म तो हो सकता है, आहारादि के देने रूप नहीं।

हम त्याग का तो सही स्वरूप समझते ही नहीं, दान का भी सही स्वरूप नही समझते। इस अर्थप्रधान युग में पैसा ही सब कुछ हो गया है। जब भी दान की बात आवेगी, दानवीरों की चर्चा होगी, तो पैसे वालों की ओर ही देखा जावेगा। आज के दानवीर सेठों में ही

दिखाई देंगे। उन्हे ही दानवीर की उपाधियाँ दी जाती हैं। किसी आहार, औषधि या ज्ञान देने वाले को कभी 'दानवीर' बनाया गया हो तो बताएँ? एक भी ज्ञानी पंडित या वैद्य समाज में 'दानवीर' की उपाधि से विभूषित दिखाई नहीं देता। जितने दानवीर होंगे वे सेठों में ही मिलेंगे। वरिएक वर्ग इससे आगे सोच भी क्या सकता है? इसने एक लाख दिए, उसने पाँच लाख दिए – ऐसी ही चर्चा सर्वत्र होती देखी जाती है।

पर मैं सोचता हूँ चार दानों में तो पैसादान, रुपयादान नाम का कोई दान है नहीं; उनमें तो आहार, औषधि, ज्ञान और अभय दान हैं; यह पैसादान कहाँ से आगया?

दान निर्लोभियों की क्रिया थी, जिसे यश और पैसे के लोभियों ने विकृत कर दिया है।

'हमारी संस्था को पैसा दो तो चारों दानों का लाभ मिलेगा', ऐसी बातें करते प्रचारक आज सर्वत्र देखे जा सकते हैं। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए वे कहेंगे – "छात्रावास में लड़के रहते हैं, वे वहीं भोजन करते है, अतः आहारदान हो गया। उन्हें कानून या डॉक्टरी या और भी इसीप्रकार की कोई लौकिक शिक्षा देते हैं, अतः ज्ञानदान हो गया। वे बीमार हो जाते हैं तो उनका अस्पताल मे इलाज कराते हैं, यह औषधिदान और अखाड़े मे व्यायाम करते हैं, यह अभयदान हो गया।"

मैं पूछता हूँ क्या अपात्रों को दिया गया भोजन आहारदान है? कहा भी है :–

मिथ्यात्वग्रस्तचित्तेसु चारित्राभासभागिषु।
दोषायैव भवेद्दानं पयःपानमिवाहिषु॥

चारित्राभास को धारण करने वाले मिथ्यादृष्टियों को दान देना सर्प को दूध पिलाने के समान केवल अशुभ के लिए ही होता है।

शास्त्रों में तीन प्रकार के पात्र कहे हैं, वे सब चौथे गुणस्थान से ऊपर वाले ही होते हैं।

तथा लौकिकशिक्षा ज्ञान है या मिथ्याज्ञान? इसीप्रकार अभक्ष्य औषधियों का देना ही औषधिदान है क्या? जिस अभक्ष्य औषधि के सेवन में पाप माना गया है उसे देने में दान-पुण्य या त्यागधर्म कैसे होगा?

जनता दान का सही स्वरूप समझ लेगी तो ये धार्मिक संस्थायें बंद नहीं होंगी, दुगुनी-चौगुनी चलेंगी। दान भी मान के लिए अभी जितना निकालते हैं, उससे दुगना-चौगुना निकलेगा। हाँ, धर्म के नाम पर धंधा करने वाली नकली संस्थाएं अवश्य बंद हो जावेंगी। सो उन्हें तो समाप्त होना ही चाहिए।

संक्लेश परिणामों से दिया गया चन्दा दान नही हो सकता। दान तो उत्साहपूर्वक विशुद्धभावों से दिया जाता है। दान के फल का निरूपण करते हुए कहा गया है :–

'दान देय मन हरष विशेखे, इस भव जस परभव सुख देखे[1]।'

यहाँ दान का फल इस भव में यश एवं आगामी भव में सुख की प्राप्ति लिखा है, मोक्ष की प्राप्ति नही लिखा। तथा दान देने के साथ 'विशेप हर्ष' की शर्त भी लगाई गई है। उत्साहपूर्वक विशेष प्रसन्नता के साथ दिया गया दान ही फलदायी होता है, किसी के दबाव या यशादि के लोभ से दिया गया दान वांछित फल नही देता।

योग्य पात्र को देखकर दातार को ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिए जैसी कि ग्राहक को देखकर दुकानदार को होती है। संक्लेश परिणामपूर्वक अनुत्साह से दिये गए दान से धर्म तो वहुत दूर, पुण्य भी नही होता।

विना मांगे दिया गया दान सर्वोत्कृष्ट है, मागने पर दिया गया दान भी न देने से कुछ ठीक है। पर जोर-जबरदस्ती से अनुत्साहपूर्वक देना तो दान ही नही है। कहा भी है :–

बिन मांगे दे दूध बरावर, मागे दे सो पानी।
वह देना है खून बरावर, जामें खीचातानी॥

खीचातानी के वाद देने वाले को इस लोक मे यश भी नही मिलता और पुण्य का बंध नही होने से परभव में सुख मिलने का भी सवाल नही उठता। नही देने पर तो अपयश होता ही है, खीचतान के वाद दे देने पर भी लोग उसकी मजाक ही उड़ाते हैं। कहते हैं भाई! तुमने पाडा दुह लिया है। हम तो समझते थे वे कुछ नही देंगे, पर तुम ले ही आये।

यशादि के लोभ के बिना धर्मप्रभावना, तत्त्वप्रचार आदि के लिए उत्साहपूर्वक दिया गया रुपये-पैसे आदि सम्पत्ति का दान; मुनिराज आदि योग्य पात्रों को दिया गया आहारादि का दान;

---

१. कविवर द्यानतराय : सोलहकारण पूजा, जयमाला

आत्मार्थियों को दिया गया आत्महितकारी तत्त्वोपदेश एवं शास्त्रादि लिखना-लिखाना, घर-घर तक पहुँचाना आदि ज्ञानदान; शुभभावरूप होने से पुण्यबंध के कारण हैं।

ज्ञानी जीवों को अपनी शक्ति एवं भूमिकानुसार उक्त दानो को देने का भाव अवश्य आता है, वे दान देते भी खूब है; किन्तु उसे त्यागधर्म नही मानते, नही जानते। त्यागधर्म भी ज्ञानी श्रावको के भूमिकानुसार अवश्य होता है और वे उसे ही वास्तविक त्यागधर्म मानते-जानते हैं।

यशादि के लोभ से दान देने वालों की आलोचना सुनकर दान नही देने वालों को प्रसन्न होने की आवश्यकता नही हैं। नही देने से तो देना अच्छा ही है, मान के लिए ही सही; उनके देने से उन्हे भले ही उसका लाभ न मिले, पर तत्त्वप्रचार आदि का कार्य तो होता ही है। यह वात अलग है कि वह वास्तविक दान नही है। अत. दान का सही स्वरूप समझकर हमें अपनी शक्ति और योग्यतानुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिए।

दान देने की प्रेरणा देते हुए आचार्य पद्मनन्दी ने लिखा है .—

सत्पात्रेषु यथाशक्ति, दान देयं गृहस्थितै ।
दानहीना भवेत्तेषा, निष्फलैव गृहस्थता ।।३१।।[1]

गृहस्थ श्रावको को शक्ति के अनुसार उत्तम पात्रो के लिए दान अवश्य देना चाहिए, क्योंकि दान के विना उनका गृहस्थाश्रम निष्फल ही होता है।

खुरचन प्राप्त होनेपर कौआ भी उसे अकेले नही खाता, बल्कि अन्य साथियो को बुलाकर खाता है। अतः यदि प्राप्त धन का उपयोग धार्मिक और सामाजिक कार्यों मे न करके उसे अकेले अपने भोग में ही लगायेगा तो यह मानव कौए से भी गया बीता माना जायगा।

यहाँ जो बात कही जा रही है वह दान की हीनता या निषेधरूप नही है। किन्तु त्याग और दान में क्या अन्तर है— यह स्पष्ट किया जा रहा है।

दान की यह आवश्यक शर्त है कि जो देना है, जितना देना है, वह कम से कम उतना, देने वाले के पास अवश्य होना चाहिए; अन्यथा देगा क्या और कहाँ से देगा? पर त्याग में ऐसा नही है। जो वस्तु हमारे पास नही है, उसको भी त्यागा जा सकता है। उसे मैं प्राप्त करने का यत्न नही करूँगा, सहज मे प्राप्त हो जाने पर भी

---

१. पद्मनदिपंचविंशतिका : उपासकसंस्कार, श्लोक ३१

पर उन्हें इससे क्या ? उन्हें तो पैसा चाहिए और देने वालो को भी क्या ? उनका नाम पाटिये पर लिखा जाना चाहिए। इसप्रकार देने वाले यश के लोभी और लेने वाले पैसे के लोभी – इन लोभियों ने लोभ के अभाव मे होने वाले दान को भी विकृत कर दिया है।

त्यागधर्म का यह दुर्भाग्य ही समझो कि उसकी चर्चा के लिए वर्ष में महापर्व दशलक्षण के दिनों में एक दिन मिलता है, उसे यह दान खा जाता है। दान क्या खा जाता है, दान के नाम पर होने वाला चन्दा खा जाता है। यह दिन चन्दा करने में चला जाता है, त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप की परिभाषा भी स्पष्ट नही हो पाती।

समाज में त्यागधर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन करने वाला विद्वान् वडा पण्डित नही; वल्कि वह पेशेवर पण्डित वड़ा पण्डित माना जाता है जो अधिक से अधिक चन्दा करा सके। यह उस देश का, उस समाज का दुर्भाग्य ही समझो जिस देश व समाज मे पण्डित और साधुओं के वड़प्पन का नाप ज्ञान और सयम से न होकर दान के नाम पर पैसा इकट्ठा करने की क्षमता के आधार पर होता है।

इस वृत्ति के कारण समाज और धर्म का सवसे वड़ा नुकसान यह हुआ कि पडितों और साधुओ का ध्यान ज्ञान और सयम से हटकर चन्दे पर केन्द्रित हो गया है। जहाँ देखो धर्म के नाम पर विशेषकर त्यागधर्म के नाम पर, दान के नाम पर, चन्दा इकट्ठा करने में ही इनकी शक्ति खर्च हो रही है, ज्ञान और ध्यान एक ओर रह गये है।

यही कारण है कि उत्तम त्यागधर्म के दिन हम त्याग की चर्चा न करके दान के गीत गाने लगते हैं। दान के भी कहाँ दानियो के गीत गाने लगते है। दानियो के गीत भी कहाँ – एक प्रकार से दानियो के नाम पर यश के लोभियो के गीत ही नही गाते, चापलूसी तक करने लगते हैं। यह सव वडा अटपटा लगता है, पर क्या किया जा सकता है – सिवाय इसके कि स्वयं वचें और त्यागधर्म का सही स्वरूप स्पष्ट करें। जिनका सद्‌भाग्य होगा वे समझेंगे, वाकी का जो होना होगा सो होगा।

यद्यपि चार दानो मे पैसा दान नही है तथापि उसका भी दान हो सकता है, होता भी है। पैसे के दान को दान ही नही मानने की वात नही कही जा रही है, पर वह ही सव-कुछ नही है – मात्र यह स्पष्ट किया है।

दान देने वाले से लेने वाला बड़ा होता है। पर यह बात तब है जब देने वाला योग्य दातार और लेने वाला योग्य पात्र हो। मुनिराज आहारदान लेते है और गृहस्थ आहारदान देते हैं। मुनिराज त्यागी हैं, त्यागधर्म के धनी है, गृहस्थ दानी है, अतः पुण्य का भागी है। धर्मतीर्थ के प्रवर्त्तक वाह्याभ्यंतर परिग्रहो के त्यागी भगवान आदिनाथ हुए और उन्हे ही मुनि अवस्था मे आहार देने वाले राजा श्रेयांस दानतीर्थ के प्रवर्तक माने गए हैं।

गृहस्थ नौ बार नमकर मुनिराज को आहार दान देता है, पर आज दान के नाम पर भीख मांगने वालों ने दातारों की चापलूसी करके उन्हे दानी से मानी बना दिया है। देने वाले का हाथ ऊंचा रहता है, आदि चापलूसी करते लोग कही भी देखे जा सकते हैं। आकाश के प्रदेशो मे ऊँचा रहने से कोई ऊँचा नही हो जाता। मक्खी राजा के मस्तक पर भी बैठ जाती है तो क्या वह महाराजा हो गई? गृहस्थो से मुनिराज सदा ही ऊँचे हैं। दातार भी यह मानता है, पर इन चापलूसो को कौन समझाए?

दानी से त्यागी सदा ही महान होता है; क्योकि त्याग धर्म है और दान पुण्य।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि आहारदान मे तो ठीक, पर ज्ञानदान मे यह बात कैसे सम्भवित होगी?

इसप्रकार कि ज्ञानदान अर्थात् समझाना, समझाने का भाव भी शुभभाव होने से पुण्यबंध का कारण है। अत. समझाने वाले को पुण्य का लाभ अर्थात् पुण्य का बध ही होता है जबकि समझने वाले को ज्ञानलाभ प्राप्त होता है। लाभ की दृष्टि से ज्ञानदान लेनेवाला फायदे मे रहा।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि आप तो व्यर्थ ही पैसो का दान देने और लेने वालो की आलोचना करते है। यदि ऐसा न हो तो सस्थाऐं चले कैसे?

अरे भाई! हम उनकी बुराई नही करते। किन्तु दान का सही स्वरूप न समझने के कारण दान देकर भी जो दान का पूरा-पूरा लाभ प्राप्त नही कर पाते – उनके हित को लक्ष्य में रखकर उसका सही स्वरूप वताते हैं, जिसे जानकर वे वास्तविक लाभ उठा सकें। रही वात सस्थाओ की सो आप उनकी बिलकुल चिन्ता न करें। यदि

जनता दान का सही स्वरूप समझ लेगी तो ये धार्मिक संस्थायें बंद नहीं होंगी, दुगुनी-चौगुनी चलेंगी। दान भी मान के लिए अभी जितना निकालते हैं, उससे दुगना-चौगुना निकलेगा। हाँ, धर्म के नाम पर धंधा करने वाली नकली संस्थाएं अवश्य बंद हो जावेंगी। सो उन्हें तो समाप्त होना ही चाहिए।

संक्लेश परिणामों से दिया गया चन्दा दान नहीं हो सकता। दान तो उत्साहपूर्वक विशुद्धभावों से दिया जाता है। दान के फल का निरूपण करते हुए कहा गया है :–

'दान देय मन हरष विशेखे, इस भव जस परभव सुख देखे[1]।'

यहाँ दान का फल इस भव में यश एवं आगामी भव मे सुख की प्राप्ति लिखा है, मोक्ष की प्राप्ति नहीं लिखा। तथा दान देने के साथ 'विशेष हर्ष' की शर्त भी लगाई गई है। उत्साहपूर्वक विशेष प्रसन्नता के साथ दिया गया दान ही फलदायी होता है, किसी के दवाव या यशादि के लोभ से दिया गया दान वांछित फल नहीं देता।

योग्य पात्र को देखकर दातार को ऐसी प्रसन्नता होनी चाहिए जैसी कि ग्राहक को देखकर दुकानदार को होती है। संक्लेश परिणामपूर्वक अनुत्साह से दिये गए दान से धर्म तो वहुत दूर, पुण्य भी नहीं होता।

विना मांगे दिया गया दान सर्वोत्कृष्ट है, मागने पर दिया गया दान भी न देने से कुछ ठीक है। पर जोर-जवरदस्ती से अनुत्साहपूर्वक देना तो दान ही नहीं है। कहा भी है :–

विन मागे दे दूध वरावर, मांगे दे सो पानी ।
वह देना है खून वरावर, जामे खीचातानी ।।

खीचातानी के वाद देने वाले को इस लोक में यश भी नहीं मिलता और पुण्य का वंध नही होने से परभव में सुख मिलने का भी सवाल नही उठता। नहीं देने पर तो अपयश होता ही है, खीचतान के वाद दे देने पर भी लोग उसकी मजाक ही उड़ाते हैं। कहते है भाई! तुमने पाडा दुह लिया है। हम तो समझते थे वे कुछ नही देंगे, पर तुम ले ही आये।

यशादि के लोभ के विना धर्मप्रभावना, तत्त्वप्रचार आदि के लिए उत्साहपूर्वक दिया गया रुपये-पैसे आदि सम्पत्ति का दान; मुनिराज आदि योग्य पात्रों को दिया गया आहारादि का दान;

---

१. कविवर द्यानतराय : सोलहकारण पूजा, जयमाला

आत्मार्थियों को दिया गया आत्महितकारी तत्त्वोपदेश एवं शास्त्रादि लिखना-लिखाना, घर-घर तक पहुँचाना आदि ज्ञानदान; शुभभावरूप होने से पुण्यबध के कारण हैं।

ज्ञानी जीवो को अपनी शक्ति एवं भूमिकानुसार उक्त दानोंको देने का भाव अवश्य आता है, वे दान देते भी खूब है; किन्तु उसे त्यागधर्म नही मानते, नही जानते। त्यागधर्म भी ज्ञानी श्रावको के भूमिकानुसार अवश्य होता है और वे उसे ही वास्तविक त्यागधर्म मानते-जानते हैं।

यशादि के लोभ से दान देने वालों की आलोचना सुनकर दान नही देने वालो को प्रसन्न होने की आवश्यकता नही है। नही देने से तो देना अच्छा ही है, मान के लिए ही सही; उनके देने से उन्हे भले ही उसका लाभ न मिले, पर तत्त्वप्रचार आदि का कार्य तो होता ही है। यह बात अलग है कि वह वास्तविक दान नही है। अत. दान का सही स्वरूप समझकर हमें अपनी शक्ति और योग्यतानुसार दान तो अवश्य ही करना चाहिए।

दान देने की प्रेरणा देते हुए आचार्य पद्मनन्दी ने लिखा है :-

सत्पात्रेषु यथाशक्ति, दानं देय गृहस्थितैः।
दानहीना भवेत्तेषा, निष्फलैव गृहस्थता ॥३१॥[1]

गृहस्थ श्रावकों को शक्ति के अनुसार उत्तम पात्रो के लिए दान अवश्य देना चाहिए, क्योकि दान के बिना उनका गृहस्थाश्रम निष्फल ही होता है।

खुरचन प्राप्त होनेपर कौआ भी उसे अकेले नही खाता, बल्कि अन्य साथियों को बुलाकर खाता है। अतः यदि प्राप्त धन का उपयोग धार्मिक और सामाजिक कार्यों में न करके उसे अकेले अपने भोग मे ही लगायेगा तो यह मानव कौए से भी गया बीता माना जायगा।

यहाँ जो बात कही जा रही है वह दान की हीनता या निषेधरूप नही है। किन्तु त्याग और दान में क्या अन्तर है— यह स्पष्ट किया जा रहा है।

दान की यह आवश्यक शर्त है कि जो देना है, जितना देना है, वह कम से कम उतना, देने वाले के पास अवश्य होना चाहिए; अन्यथा देगा क्या और कहाँ से देगा? पर त्याग में ऐसा नही है। जो वस्तु हमारे पास नही है, उसको भी त्यागा जा सकता है। उसे मैं प्राप्त करने का यत्न नही करूँगा, सहज मे प्राप्त हो जाने पर भी

१. पद्मनदिपंचविंशतिका : उपासकसस्कार, श्लोक ३१

नही लूंगा – इसप्रकार का त्याग किया जाता है। वस्तुतः यह उस वस्तु का त्याग नही, उसके प्रति होने वाले या सम्भवित राग का त्याग है।

लखपति अधिक से अधिक लाख का ही दान दे सकता है, पर त्याग तो तीन लोक की सम्पत्ति का भी हो सकता है। परिग्रह-परिमाणव्रत में एक निश्चित सीमा तक परिग्रह रख कर और समस्त परिग्रह का त्याग किया जाता है। वह सीमा – अपने पास है उससे भी बडी हो सकती है। जैसे – जिसके पास दस हजार का परिग्रह है, वह एक लाख का भी परिग्रहपरिमाण ले सकता है। ऐसा होने पर भी वह त्यागी है, पर अपने पास रखने की कोई सीमा निर्धारित किये बिना करोडो का भी दान दे तो भी त्यागी नही माना जायगा।

दान कमाई पर प्रतिबंध नही लगाता, आप चाहे जितना कमाओ; पर त्याग मे भले ही हम कुछ न दे, कुछ न छोड़े, पर वह कमाई को सीमित करता है, उस पर प्रतिबध लगाता है।

दान मे यह देखा जाता है कि कितना दिया, यह नही देखा जाता कि उसने अपने पास कितना रखा है, जबकि त्याग मे यह नही देखा जाता कि कितना दिया है या छोड़ा है, बल्कि यह देखा जाता है कि उसने अपने पास कितना रखा या रखने का निश्चय किया है, बाकी सबका त्याग ही है। यदि त्याग मे कितना छोड़ा देखा जाता होता तो फिर चक्रवर्ती पद छोड़कर मुनि बनने वाले व्यक्ति सबसे बड़े त्यागी माने जाते; किन्तु नग्नदिगम्बर भावलिंगी सन्त अपनी वीतरागपरिणतिरूप त्याग से छोटे-बडे माने जाते है – इससे नही कि वे कितना धन, राज-पाट, स्त्री-पुत्रादि छोड़ के आये हैं। यदि ऐसा होता तो फिर भरत चक्रवर्ती बड़े त्यागी एव भगवान महावीर छोटे त्यागी माने जाते। क्योकि भरतादि चक्रवर्तियो ने तो छ्यानवै हजार पत्नियो और छहखण्ड की विभूति छोडी थी। महावीर के तो पत्नी थी ही नही, छहखण्ड का राज भी नही था, वे क्या छोडते? लोक मे भी बालब्रह्मचारी को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

दान मे इतना देकर कितना रखा – इसका विचार नही किया जाता, पर त्याग मे कितना रखा – यह देखा जाता है, कितना छोडा या दिया – यह नही।

दान यदि देने का नाम है तो त्याग नही लेने को कहते है। देने वाले से, नही लेने वाला बडा होता है। क्योकि देने वाला दानी है और नही लेने वाला त्यागी।

जिसके पास सब-कुछ होता है उसे राजा कहते है; और जिसके पास कुछ नही होता अर्थात् जो अपने पास कुछ भी नही रखता, जिसे कुछ भी नही चाहिए उसे महाराजा कहा जाता है। कहा भी है :-

चाह गई चिन्ता गई, मनुआ बे-परवाह।
जिन्हे कछु नही चाहिए, ते नर शाहशाह ।।

लोक में दानियो से अधिक सन्मान त्यागियों का होता है और वह उचित भी है - क्योंकि त्याग शुद्धभाव है और दान शुभभाव; त्याग धर्म है और दान पुण्य।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि लोक में त्याग जैसे पवित्र शब्द के साथ मल-मूत्र जैसे अपवित्र शब्दो को जोड़ दिया जाता है। जैसे - मलत्याग, मूत्रत्याग। जबकि त्याग की अपेक्षा हीन - दान के साथ ज्ञान जैसा पवित्र शब्द जोड़ा गया है। जैसे - ज्ञानदान।

भाई! कोई शब्द पवित्र या अपवित्र नही होता। शब्द तो वस्तु के वाचक हैं। रही वस्तु की बात, सो भाई! त्याग तो अपवित्र वस्तु का ही किया जाता है। राग-द्वेष-मोह भाव भी तो अपवित्र है, उनके साथ भी त्याग शब्द लगता है। तथा दान तो अच्छी वस्तु का ही दिया जाता है।

यदि आज के सन्दर्भ मे गहराई से विचार करे तो सच्चा त्याग तो लोग मल-मूत्र का ही करते हैं। क्योकि जिस वस्तु को त्यागा फिर उसके सम्बन्ध मे विकल्प भी नही उठना चाहिए कि उसका क्या हुआ अथवा क्या होगा? यदि विकल्प उठे तो उसका त्याग कहाँ हुआ? मल-मूत्र के त्याग के बाद लोगो को विकल्प भी नही उठता कि उसका क्या हुआ, उसे कूकर ने खाया या सूकर ने?

इन्ही के समान जब उन समस्त वस्तुओं के प्रति हमारा उपेक्षा भाव हो जिनका हम त्याग करना चाहते हैं या करते हैं, तभी वह सच्चा त्याग होगा।

त्याग एक ऐसा धर्म है जिसे प्राप्त कर यह आत्मा अकिंचन अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धारी बन जाता है, पूर्ण ब्रह्म मे लीन होने लगता है, हो जाता है, और सारभूत आत्मस्वभाव को प्राप्त कर लेता है।

ऐसे परम पवित्र त्यागधर्म का मर्म समझकर जन-जन समस्त बाह्याभ्यन्तर परिग्रह को त्याग कर ब्रह्मलीन हो, अनन्त सुखी हो; इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

उत्तम आकिंचन्य

ज्ञानानंदस्वभावी आत्मा को छोड़कर किंचित्मात्र भी परपदार्थ तथा पर के लक्ष्य से आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेष के भाव आत्मा के नही है – ऐसा जानना, मानना और ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के आश्रय से उनसे विरत होना, उन्हे छोड़ना ही उत्तम आकिंचन्यधर्म है ।

आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य को दशधर्मो का सार एवं चतुर्गति दुःखो से निकालकर मुक्ति मे पहुँचा देने वाला महानधर्म कहा गया है :–

आकिंचन, ब्रह्मचर्य धर्म दश सार हैं ।
चहुँगति दुःखतें काढि मुकति करतार हैं ॥[1]

वस्तुतः आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य एक सिक्के के दो पहलू हैं । ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा को ही निज मानना, जानना और उसी में जम जाना, रम जाना, समा जाना, लीन हो जाना ब्रह्मचर्य है और उससे भिन्न परपदार्थों एव उनके लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले चिद्विकारो को अपना नही मानना, नही जानना और उनमे लीन नही होना ही आकिंचन्य है ।

यदि स्वलीनता ब्रह्मचर्य है तो पर मे एकत्वबुद्धि और लीनता का अभाव आकिंचन्य है । अतः जिसे अस्ति से ब्रह्मचर्यधर्म कहा जाता है उसे ही नास्ति से आकिंचन्यधर्म कहा गया है । इसप्रकार स्व-अस्ति ब्रह्मचर्य है और पर की नास्ति आकिंचन्य ।

ब्रह्मचर्यधर्म की चर्चा तो स्वतन्त्र रूप से होगी ही, यहाँ तो अभी आकिंचन्यधर्म के सम्बन्ध मे विचार अपेक्षित है ।

जिसप्रकार क्षमा का विरोधी क्रोध, मार्दव का विरोधी मान है; उसीप्रकार आकिंचन्यधर्म का विरोधी परिग्रह है अर्थात् आकिंचन्य के अभाव को परिग्रह अथवा परिग्रह के अभाव को आकिंचन्यधर्म कहा जाता है । अतः आकिंचन्य का दूसरा नाम अपरिग्रह भी हो सकता है ।

---

[1] दशलक्षण पूजन, स्थापना

जिस परिग्रह के त्याग से आकिंचन्यधर्म प्रकट होता है, पहले उसे समझना आवश्यक है।

परिग्रह दो प्रकार का होता है – आभ्यन्तर और बाह्य।

आत्मा में उत्पन्न होने वाले मोह-राग-द्वेषादिभावरूप आभ्यन्तर परिग्रह को निश्चयपरिग्रह और बाह्य परिग्रह को व्यवहारपरिग्रह भी कहा जाता है। जैसा कि 'धवल' मे कहा है :–

"ववहारणयं पडुच्च खेत्तादी गथो, अब्भंतरगंथकारणत्तादो। एदस्स परिहरणं णिग्गथत्त। णिच्छयणयं पडुच्च मिच्छत्तादी गथो, कम्मबंधकारणत्तादो। तेसिं परिच्चागो णिग्गंथत्त।"[1]

व्यवहारनय की अपेक्षा से क्षेत्रादिक ग्रथ हैं, क्योंकि वे आभ्यतर-ग्रंथ के कारण हैं, इनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है। निश्चयनय की अपेक्षा से मिथ्यात्वादि ग्रथ हैं, क्योंकि वे कर्मबंध के कारण हैं और उनका त्याग करना निर्ग्रन्थता है।

इसप्रकार निर्ग्रन्थता अर्थात् आकिंचन्यधर्म के लिये आभ्यन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के परिग्रह का अभाव (त्याग) आवश्यक है। यही निश्चय-व्यवहार की सधि भी है।

आभ्यन्तर परिग्रह चौदह प्रकार के होते हैं :–

१. मिथ्यात्व, २. क्रोध, ३ मान, ४. माया, ५ लोभ, ६ हास्य, ७. रति, ८. अरति, ९. शोक, १०. भय, ११. जुगुप्सा (ग्लानि), १२. स्त्रीवेद, १३. पुरुषवेद और १४ नपुसकवेद।

बाह्य परिग्रह दश प्रकार के होते हैं :–

१. क्षेत्र (खेत), २. मकान, ३. चादी, ४ सोना, ५. धन, ६. धान्य, ७ दासी, ८ दास, ९ वस्त्र और १०. बर्तन।

इसप्रकार परिग्रह कुल चौबीस प्रकार के माने गये हैं। कहा भी है :–

'परिग्रह चौबीस भेद, त्याग करें मुनिराज जी।'[2]

उक्त चौबीस प्रकार के परिग्रह के त्यागी मुनिराज उत्तम आकिंचन्यधर्म के धारी होते हैं।

---

[1] धवला पुस्तक ९, खण्ड ४, भाग १, सूत्र ६७, पृष्ठ ३८३

[2] दशलक्षण पूजन, उत्तम आकिंचन्य का छन्द

जब भी परिग्रह या परिग्रहत्याग की चर्चा चलती है – हमारा ध्यान बाह्य परिग्रह की ओर ही जाता है; मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभादि भी परिग्रह है – इस ओर कोई ध्यान ही नही देता। क्रोध, मान, माया, लोभ की जब भी बात आयेगी तो कहा जायेगा कि ये तो कषाये है; पर कषायों का भी परिग्रह होता है, यह विचार नही आता।

जब जगत क्रोध-मानादि को भी परिग्रह मानने को तैयार नही तो फिर हास्यादि कषायो को कौन परिग्रह माने ?

पाँच पापो में परिग्रह एक पाप है और हास्यादि कषाये परिग्रह के भेद हैं। पर जब हम हँसते हैं, शोकसंतप्त होते है, तो क्या यह समझते है कि हम कोई पाप कर रहे है या इनके कारण हम परिग्रही हैं ?

बहुत से परिग्रह-त्यागियो को कही भी खिलखिलाकर हँसते, हड़बड़ाकर डरते देखा जा सकता है। क्या वे यह अनुभव करते है कि यह सब परिग्रह है ?

जयपुर में लोग भगवान की मूर्तियाँ लेने आते हैं और मुझसे कहते हैं कि हमे तो बहुत सुन्दर मूर्ति चाहिए, एकदम हँसमुख। मैं उन्हे समझाता हूँ कि भाई ! भगवान की मूर्ति हँसमुख नही होती। हास्य तो कषाय है, परिग्रह है और भगवान तो अकषायी, अपरिग्रही हैं, उनकी मूर्ति हँसमुख कैसे हो सकती है ? भगवान की मूर्ति की मुद्रा तो वीतरागी शान्त होती है। कहा भी है :–

'जय परमशान्त मुद्रा समेत, भविजन को निज अनुभूति हेत'।[1]

'छवि वीतरागी नग्न मुद्रा, दृष्टि नाशा पर धरें'।[2]

यह भी बहुत कम लोग जानते हैं कि सब पापो का बाप लोभ भी एक परिग्रह है। शब्दो मे जानते भी हों तो यह अनुभव नही करते कि लोभ भी एक परिग्रह है, अन्यथा यश के लोभ मे दौड़-धूप करते तथाकथित परिग्रह-त्यागी दिखाई नही देते।

घोर पापो की जड मिथ्यात्व भी एक परिग्रह है, एक नही, नम्बर एक का परिग्रह है – जिसके छूटे बिना अन्य परिग्रह छूट ही नही सकते – इस ओर भी कितनों का ध्यान है ? होता तो

---

[1] प० दौलतरामजी कृत देव-स्तुति

[2] कविवर बुधजनकृत देव-स्तुति

मिथ्यात्व का अभाव किये बिना ही अपरिग्रही बनने के यत्न नही किये जाते ।

परिग्रह सबसे बड़ा पाप है और आकिंचन्य सबसे बडा धर्म। जगत मे जितनी भी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील प्रवृत्तियाँ देखी जाती है – उन सबके मूल मे परिग्रह है। जब मोह-राग-द्वेष आदि सभी विकारी भाव परिग्रह है तो फिर कौन सा पाप बच जाता है जो परिग्रह की सीमा मे न आ जाता हो ।

मोह-राग-द्वेष भावों की उत्पत्ति का नाम ही हिंसा है। कहा भी है :–

अप्रादुर्भाव खलु रागादीना भवत्यहिंसेति ।
तेपामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेपः ।।[1]

राग-द्वेप-मोह आदि विकारी भावो की उत्पत्ति ही हिंसा है और उन भावो का उत्पन्न नही होना ही अहिंसा है ।

झूठ, चोरी, कुशील मे भी राग-द्वेष-मोह ही काम करते है। अत· राग-द्वेप-मोहमय होने से परिग्रह सबसे बडा पाप है ।

क्षमा तो क्रोध के अभाव का नाम है। इसीप्रकार मार्दव मान के, आर्जव माया के तथा शौच लोभ के अभाव का नाम है। पर आकिंचन्यधर्म – क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुपवेद, नपुसकवेद सभी कपायो के अभाव का नाम है। अत आकिंचन्य सबसे बडा धर्म है ।

आज तो बाह्य परिग्रह मे भी मात्र रुपये-पैसे को ही परिग्रह माना जाता है, धन-धान्यादि की ओर किसी का ध्यान भी नही जाता। किसी भी परिग्रह-परिमाणधारी अणुव्रती से पूछिये कि आपका परिग्रह का परिमाण क्या है ? तो तत्काल रुपयो-पैसो मे उत्तर देंगे। कहेगे कि – "दश हजार या बीस हजार।" "और ..?" यह पूछेगे तो कहेगे – "और क्या ?"

मैं जानना चाहता हूँ कि क्या रुपया-पैसा ही परिग्रह है और कोई परिग्रह नही ? धन-धान्य, क्षेत्र-वास्तु, स्त्री-पुत्रादि बाह्य परिग्रहो की भी बात नही, तो क्रोध-मानादि अतरग परिग्रहो की कौन पूछता है ?

---

[1] आचार्य अमृतचन्द्र पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द ४४

जब एक परिग्रह-परिमाणधारी से पूछा गया कि परिग्रह तो चौबीस होते हैं, आपने तो चौबीसों ही का परिमाण किया होगा ? तब वे आश्चर्यचकित से बोले – "नहीं, हमने तो सिर्फ रुपयों का ही परिमाण किया है, आप बताओ तो चौबीस का कर लेंगे।"

मैंने कहा – "सो तो ठीक है, पर आपने कभी विचार भी किया है कि चौबीस परिग्रहों का परिमाण हो भी सकता है या नहीं ?"

तब वे तत्काल कहने लगे – "क्यों नहीं हो सकता, सब हो सकता है, दुनियाँ में ऐसा कौनसा काम है जो आदमी से न हो सके ? आदमी चाहे तो सब कुछ कर सकता है।"

मैंने कहा – "ठीक, आपको चौबीस परिग्रहो के नाम तो आते ही होंगे ? पहला परिग्रह 'मिथ्यात्व' है, उसका परिमाण हो सकता है क्या ? यदि 'हाँ' तो फिर कितना मिथ्यात्व रखना और कितना छोड़ना ? क्या मिथ्यात्व भी कुछ रखा और कुछ छोडा जा सकता है ?"

वे भौचक्के-से देखते रहे, क्योकि मिथ्यात्व भी एक परिग्रह है, यह उन्होंने आज ही सुना था।

अस्तु ! मैंने अपनी बात को आगे बढाते हुए कहा –

"भाई ! मिथ्यात्व के पूर्णत: छूटे बिना तो व्रत होते ही नही, अत: परिग्रह-परिमाणव्रत लेने वाले के मिथ्यात्व है ही कहाँ जो उसका परिमाण किया जाय।

इसीप्रकार क्रोध, मान, माया, लोभादि विकारी भावरूप अंतरग परिग्रहो का भी परिमाण कैसे और कितना किया जाय – इसका भी विचार किया कभी ?"

चौथे गुणस्थान की अपेक्षा पचम गुणस्थान में आत्मा का अधिक व उग्र आश्रय होने से अनन्तानुबंधी एवं अप्रत्यख्यानावरण क्रोधादि का अभाव हो जाता है तथा किंचित् कमजोरी के कारण प्रत्यख्यानावरण एवं संज्वलन क्रोधादि का सद्भाव बना रहता है, तदनुसार धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह की सीमा बुद्धिपूर्वक की जाती है।

इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का नाम ही परिग्रह-परिमाणव्रत है।

जन-सामान्य को इन चौबीस परिग्रहो की तो खबर नही, रुपये-पैसे को ही अपनी कल्पना से परिग्रह मानकर उसकी ही उल्टी-सीधी मर्यादा करके अपने को परिग्रह-परिमाणव्रती मान लेते है।

जिन रुपयों-पैसो को जगत परिग्रह माने बैठा है, वह अंतरंग परिग्रह तो है ही नही, पर धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों मे भी उसका नाम नही है। वह तो बाह्य परिग्रहों के विनिमय का कृत्रिम साधन मात्र है। उसमें स्वय कुछ भी ऐसा नही, जिसके लोभ से जगत उसका संग्रह करे। यदि उसके माध्यम से धन-धान्यादि भोग-सामग्री प्राप्त न हो तो उसे कौन समेटे ? दश हजार का नोट अब बाजार मे नहीं चलता तो अब उसे कौन चाहता है ? जगत की दृष्टि में उसकी कीमत तभी तक है जब तक वह धन-धान्यादि बाह्यपरिग्रहों की प्राप्ति का साधन है। साधन में साध्य का उपचार करके ही वह परिग्रह कहा जा सकता है, पर चौबीस परिग्रहों मे नाम तक न होने पर भी आज यह पच्चीसवाँ परिग्रह ही सब कुछ बना हुआ है।

रुपये-पैसे को वाह्य परिग्रह में भी स्थान न देने का एक कारण यह भी रहा कि उसकी कीमत घटती-बढती रहती है। रुपये-पैसे का जीवन मे डायरेक्ट तो कोई उपयोग है नही, वह धन-धान्यादि जीवनोपयोगी वस्तुओं की प्राप्ति का साधन मात्र है। अणुव्रतों मे परिग्रह का परिमाण जीवनोपयोगी वस्तुओं का ही किया जाता है। रुपये-पैसो की कीमत घटती-बढती रहने से मात्र उसका परिमाण किये जाने पर परेशानी हो सकती है।

मान लीजिये एक व्यक्ति ने दश हजार का परिग्रह परिमाण किया। जब उसने यह परिमाण किया था तब उसके मकान की कीमत पाँच हजार रुपये थी, कालान्तर मे उसी मकान की कीमत पचास हजार रुपये भी हो सकती है। इसीप्रकार धन-धान्यादि की भी स्थिति समझना चाहिए। अतः परिग्रह-परिमाणव्रत मे धन-धान्यादि नित्योपयोगी वस्तुओ के परिमाण करने को कहा गया।

परिग्रह-परिमाणधारी को तो जीवनोपयोगी परिमित वस्तुओं की आवश्यकता है, चाहे उनकी कीमत कुछ भी क्यो न हो। परिग्रह परिमाणधारी घर मे ही रहता है, अत. उसे सब चाहिए – धन-धान्य, क्षेत्र-मकान, वर्तनादि। पर आज की स्थिति वदल गई है, क्योकि कोई भी परिग्रह-परिमाणधारी घर मे नही रहना चाहता। वह अपने को गृहस्थ नही, साधु समझता है; जबकि अणुव्रत गृहस्थो के होते हैं, साधुओ के नही। उसे वनाकर ही नही, कमाकर खाना चाहिए; पर वह कमा कर खाना तो बहुत दूर, वनाकर भी नही खाना चाहता है। वह अपने घर मे नही, धर्मशालाओ मे रहता है और अपना सारा

भार समाज पर डालता है। अतः न उसे अब मकान की आवश्यकता रही है, और न धन-धान्यादि की। यही कारण है कि वह परिग्रह का परिमाण भी रुपये-पैसों में करने लगा है।

बड़ी विचित्र स्थिति हो गई है। एक अणुव्रती ने मुझसे कहा – "मैं आपसे अपनी एक शका का समाधान एकान्त में करना चाहता हूँ।"

जब मैंने कहा – "तत्त्वचर्चा में एकान्त की क्या आवश्यकता है ?"

तब वे बोले – "कुछ व्यक्तिगत बात है।"

एकान्त में बोले – "मेरी एक समस्या है, उसका समाधान आपसे चाहता हूँ। बात यह है किं मैंने पाँच हजार का परिग्रह-परिमाणव्रत लिया था। जब परिमाण किया था तब मेरे पास इतने भी पैसे नही थे और न प्राप्त होने की सम्भावना ही थी, पर बाद मे पैसे प्राप्त हुए और ब्याज बढता गया। खर्चा तो कुछ था नही, लगभग दश हजार हो गए। मैं बहुत परेशानी मे था, अत. मैंने अपने एक साथी व्रतीब्रह्मचारी से चर्चा की तो उन्होने कहा कि तुम कुछ समझते तो हो नही। इसमे क्या है, जब तुमने व्रत लिया था तब से अब रुपये की कीमत आधी रह गई है। अत. दश हजार रखना कोई अनुचित नही है।

उनकी बात मेरी रुचि के अनुकूल होने से मैंने स्वीकार कर ली। पर अब रुपये और बढ रहे है, बारह-तेरह तक पहुँच गये है। अब क्या करूँ, मेरी समझ मे नही आता। यद्यपि उक्त तर्क के आधार पर मैंने मर्यादा बढा ली थी, अब भी बढा सकता हूँ, पर मेरा हृदय न मालूम क्यों इस बात को स्वीकार नही कर पा रहा है।"

उनकी बात का तत्काल तो मैं कुछ विशेष उत्तर न दे सका पर उक्त प्रश्न ने मेरे हृदय को झकझोर डाला। मैंने उक्त बात पर गम्भीरता से चिन्तन किया। विचार करते-करते मुझे यह बिन्दु हाथ लगा कि आखिर आगम मे रुपये-पैसो को परिग्रह मे क्यो नही गिनाया ?

समझ मे नही आता, धार्मिक समाज को आज क्या हो गया है ? परिग्रह के पूर्णत त्यागी महाव्रती साधु और परिग्रह-परिमाणव्रती अणुव्रती गृहवासी गृहस्थ – दोनों ही मठवासी, मन्दिरवासी, धर्मशाला-वासी हो गए हैं। एक को वन मे रहना चाहिए, दूसरे को घर में; पर न वनवासी वन मे रहते हैं और न गृहवासी गृह में; और एक साथ धर्मशालावासी हो गए हैं। आहार देने वाले अणुव्रती गृहस्थ भी

आज आहार लेने लगे हैं। अन्यथा जिन्होने अपनी कमाई के साधन सीमित कर लिए, उनके भी सम्पत्ति बढते जाने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

व्रतियो को महाव्रतियो का भार उठाना था, पर उन्होंने तो अपना भार अव्रतियो पर डाल दिया है। यही कारण है कि महाव्रतियो को अनुदिष्ट आहार मिलना बन्द हो गया है। क्योकि अव्रती तो उतना शुद्ध भोजन करते ही नही कि ये मुनिराज के उद्देश्य के बिना बनाके उन्हे दे सकें। व्रती अवश्य ऐसा भोजन करते हैं कि वे अपने लिए बनाए गए भोजन को मुनिराजों को दे सकते हैं, पर वे तो लेने वाले हो गए।

जो कुछ भी हो, प्रकृत मे तो मात्र यह विचारना है कि रुपये-पैसो को आगम मे चौवीस परिग्रहो मे पृथक् स्थान क्यो नही दिया ? वैसे वह धन मे आ ही जाता है।

यदि रुपये-पैसे को ही परिग्रह मानें तो फिर देवों, नारकियों और तिर्यंचो मे तो परिग्रह होगा ही नही, क्योंकि उनके पास तो रुपया-पैसा देखने मे ही नही आता। उनमे तो मुद्रा का व्यवहार ही नही है, उन्हे इस व्यवहार का कोई प्रयोजन भी नही है; पर उनके परिग्रह का त्याग तो नही है।

इसीप्रकार धन-धान्यादि बाह्य परिग्रहों को ही परिग्रह मानें तो फिर पशुओं को अपरिग्रही मानना होगा, क्योंकि उनके पास बाह्य परिग्रह देखने में नहीं आता। धन-धान्य, मकानादि सग्रह का व्यवहार तो मुख्यत मनुष्य व्यवहार है। मनुष्यो में भी पुण्य का योग न होने पर धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह कम देखा जाता है तो क्या वे परिग्रह-त्यागी हो गये ? नहीं, कदापि नही।

जब आत्मा के धर्म और अधर्म की चर्चा चलती है तो उनकी परिभाषाये ऐसी होनी चाहिये कि वे सभी आत्माओ पर समान रूप से घटित हो। यही कारण है कि आचार्यों ने अंतरंग परिग्रह के त्याग पर विशेष बल दिया है।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' मे कहा है :—

बाहिरगंथविहीणा दलिद्दमणुवा सहावदो होंति।
अब्भतर-गंथं पुण ण सक्कदेको विछंडेदुं ॥३८७॥

बाह्य परिग्रह से रहित दरिद्री मनुष्य तो स्वभाव से ही होते हैं, किन्तु अतरग परिग्रह को छोड़ने मे कोई भी समर्थ नही होता।

'अष्टपाहुड (भावपाहुड़)' में सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :–

भावविशुद्धिणिमित्त बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगथजुत्तस्स ।।३।।

बाह्य परिग्रह का त्याग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है, परन्तु रागादिभावरूप अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग बिना बाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है ।

बाह्य परिग्रह त्याग देने पर भी यह आवश्यक नही कि अन्तरंग परिग्रह भी छूट ही जायेगा । यह भी हो सकता है कि वाह्य मे तिल-तुषमात्र भी परिग्रह न दिखाई दे, परन्तु अंतरंग मे चौदहो परिग्रह विद्यमान हों । द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनियो के यही तो होता है । प्रथम गुणस्थान में होने से उनमे मिथ्यात्वादि सभी अतरग परिग्रह पाये जाते है, पर बाह्य मे वे नग्न दिगम्बर होते है ।

'भगवती आराधना' मे स्पष्ट लिखा है .–

अब्भतरसोधीए गथे णियमेण बाहिरे च यदि ।
अब्भंतरमइलो चेव बाहिरे गेण्हदि हु गंथे ।।१६१५।।
अब्भंतरसोधीए बाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भतरदोसेण हु कुणदि, णरो बाहिरे दोसे ।।१६१६।।

अतरग शुद्धि होनेपर बाह्य परिग्रह का नियम से त्याग होता है । अभ्यन्तर अशुद्ध परिणामो से ही वचन और शरीर से दोषो की उत्पत्ति होती है । अतरग शुद्धि होने से बहिरग शुद्धि भी नियम से होती है । यदि अंतरग परिणाम मलिन होगे तो मनुष्य शरीर और वचनो से भी दोष उत्पन्न करेगा ।

वस्तुत बात तो यह है कि धन-धान्यादि स्वय मे कोई परिग्रह नही हैं; वल्कि उनके ग्रहण का भाव, संग्रह का भाव – परिग्रह है । जव तक परपदार्थों के ग्रहण या संग्रह का भाव न हो तो मात्र परपदार्थों की उपस्थिति से परिग्रह नही होता, अन्यथा तीर्थंकरो के तेरहवे गुणस्थान मे होनेपर भी देह व समोशरणादि विभूतियो का परिग्रह मानना होगा, जवकि अंतरग परिग्रहों का सद्भाव दशवे गुणस्थान तक ही होता है ।

सभी तथ्यों का ध्यान रखते हुए जिनागम मे परिग्रह की परिभाषा इसप्रकार दी गई है :–

"मूर्च्छा परिग्रहः"[1]

मूर्च्छा परिग्रह है।

मूर्च्छा की परिभाषा आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते हैं :–

"मूर्च्छा तु ममत्वपरिणामः"[2]

ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका मे (गाथा २७८ की टीका में) आचार्य जयसेन ने लिखा है :–

"मूर्च्छा परिग्रहः" इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूप-रागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति, न च बहिरंगपरिग्रहानु-सारेण।"

मूर्च्छा परिग्रह है – इस सूत्र में यह कहा गया है कि अतरंग इच्छारूप रागादि परिणामो के अनुसार परिग्रह होता है, बहिरंग परिग्रह के अनुसार नही।

आचार्य पूज्यपाद तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं :–

"ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रह."[3]

यह वस्तु मेरी है – इसप्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है।

परिग्रह की उपर्यक्त परिभाषा और स्पष्टीकरणो से परपदार्थ स्वयं मे कोई परिग्रह नही है – यह स्पष्ट हो जाता है। परपदार्थों के प्रति जो हमारा ममत्व है, राग है – वास्तव मे तो वही परिग्रह है। जब परपदार्थों के प्रति ममत्व छूटता है तो तद्नुसार बाह्य परिग्रह भी नियम से छूटता ही है। किन्तु बाह्य परिग्रह के छूटने से ममत्व के छूटने का नियम नही है – क्योंकि पुण्य के अभाव और पाप के उदय मे परपदार्थ तो अपने आप ही छूट जाते है, पर ममत्व नही छूटता; बल्कि कभी-कभी तो और अधिक बढ़ने लगता है।

परपदार्थ के छूटने से कोई अपरिग्रही नही होता; बल्कि उसके रखने का भाव, उसके प्रति एकत्वबुद्धि या ममत्व परिणाम छोड़ने से परिग्रह छूटता है – आत्मा अपरिग्रही अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धनी बनता है।

---

[1] आचार्य उमास्वामी: तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सू० १७

[2] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द १११

[3] सर्वार्थसिद्धि, अ० ६, सू० १५

शरीरादि परपदार्थों और रागादि चिद्विकारों मे एकत्वबुद्धि, अहबुद्धि ही मिथ्यात्व नामक प्रथम अतरग परिग्रह है। जब तक यह नही छूटता तब तक अन्य परिग्रहों के छूटने का प्रश्न ही नही उठता। पर इस मुग्ध जगत का इस ओर ध्यान ही नही है।

सारी दुनियाँ परिग्रह की चिन्ता में ही दिन-रात एक कर रही है, मर रही है। कुछ लोग परपदार्थों के जोड़ने मे मग्न हैं, तो कुछ लोगों को धर्म के नाम पर उन्हे छोड़ने की धुन सवार है। यह कोई नही सोचता कि वे मेरे हैं ही नही, मेरे जोड़ने से जुड़ते नही और ऊपर-ऊपर से छोड़ने से छूटते भी नही। उनकी परिणति उनके अनुसार हो रही है, उसमें हमारे किए कुछ नही होता। यह आत्मा तो मात्र उन्हे जोड़ने या छोड़ने के विकल्प करता है, तदनुसार पाप-पुण्य का बध भी करता रहता है।

पुण्य के उदय मे अनुकूल परपदार्थों का बिना मिलाये भी सहज संयोग होता है। इसीप्रकार पाप के उदय मे प्रतिकूल परपदार्थों का संयोग होता रहता है। यद्यपि इसमे इसका कुछ भी वश नही चलता तथापि मिथ्यात्व और राग के कारण यह अज्ञानी जगत अनुकूल-प्रतिकूल सयोगों-वियोगो मे अहबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि किया करता है। यही अहंबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि मिथ्यात्व नामक सबसे खतरनाक परिग्रह है। सबसे पहिले इसे छोड़ना जरूरी है।

जिसप्रकार वृक्ष के पत्तों के सीचने से पत्ते नही पनपते, वरन् जड को सीचने से पत्ते पनपते है; उसीप्रकार समस्त अतरग-वहिरग परिग्रह मिथ्यात्वरूपी जड से पनपते हैं। यदि हम चाहते है कि पत्ते सूख जावे तो पत्तो को तोड़ने से कुछ नही होगा, नवीन पत्ते निकल आवेंगे; पर यदि जड़ ही काट दी जावे तो फिर समय पाकर पत्ते आपो-आप सूख जायेंगे। उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी जड को काट देने पर बाकी के परिग्रह समय पाकर स्वत. छूटने लगेंगे।

जव यह वात कही जाती है तो लोग कहते हैं कि बस पर को अपना मानना नही है, छोडना तो कुछ है नही। यदि कुछ छोड़ना नही है तो फिर परिग्रह छूटेगा कैसे ?

अरे भाई ! छोड़ना क्यो नही है ? पर को अपना मानना छोड़ना है। जव पर को अपना मानना ही मिथ्यात्व नामक प्रथम परिग्रह है, तो उसे छोड़ने के लिए पर को अपना मानना ही छोड़ना होगा।

यद्यपि मानना छोडना (मत परिवर्तन) बहुत बड़ा त्याग है, काम है; तथापि इस जगत को इसमे कुछ छोडा – ऐसा लगता ही नही है। यदि दश-पाँच लाख रुपये छोड़े, स्त्री-पुत्रादि को छोड़े, तो कुछ छोड़ा-सा लगता है। पर इन्ही रुपयों को, स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना छोड़े तो कुछ छोड़ा-सा नही लगता। यह सब मिथ्यात्व नामक परिग्रह की ही महिमा है। उसी के कारण जगत को ऐसा लगता है।

अरे भाई ! यदि पर को अपना मानना छोड़े बिना उसे छोड़ भी दे, तो वह छूटेगा नही। पर को छोडने के लिए अथवा पर से छूटने के लिए सर्वप्रथम उसे अपना मानना छोडना होगा, तभी कालान्तर मे वह छूटेगा। वह छूटेगा क्या, वह तो छूटा हुआ ही है। वस्तुत यह जीव बलात् उसे अपना मान रहा है। अतः गहराई से विचार करें तो उसे अपना मानना ही छोड़ना है।

जगत के पदार्थ तो जगत में रहते हैं और रहेंगे – उन्हे क्या छोड़ें और कैसे छोडे ? उन्हे अपना मानना और ममत्व करना ही तो छोड़ना है।

देह को अपना मानना छोड़ने से, ममत्व छोड़ने से, उससे राग छूट जाने पर भी तत्काल देह छूट नही जाती; देह का परिग्रह छूट जाता है। देह तो समय पर अपने-आप छूटती है; पर देह मे एकत्व और रागादि-त्यागी को फिर दुवारा देह धारण नही करनी पड़ती और जो लोग इससे एकत्व और राग नही छोड़ते है, उन्हे बार-बार देह धारण करनी पड़ती है।

यहाँ कोई कहे कि जिसप्रकार देह को नही, देह को अपना मानना छोडना है, देह से राग छोडना है, देह तो समय पर अपने-आप छूट जावेगी, उसीप्रकार हम मकान तो दश-दश रखे, पर उनसे ममत्व नही रखे, तो क्या मकान का परिग्रह नही होगा ? यदि हाँ, तो फिर हम मकान तो खूब रखेंगे, बस उनसे ममत्व नही रखेंगे।

उससे कहते हैं कि भाई जरा विचार तो करो ! यदि तुम मकान से ममत्व नही रखोगे तो मिथ्यात्व नामक अतरग परिग्रह छूटेगा, मकान (वास्तु) नामक वहिरंग परिग्रह नही। क्योकि मकानादिरूप वाह्य परिग्रह तो प्रत्याख्यान सम्बन्धी राग (लोभादि) रूप अंतरंग परिग्रह के छूटने पर छूटता है एवं अप्रत्याख्यान सम्बन्धी राग (लोभादि) रूप अंतरग परिग्रह छूटने पर मकानादि वाह्य परिग्रह

'अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़)' में सर्वश्रेष्ठ दिगम्बराचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं :–

भावविशुद्धिणिमित्त वाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भतरगथजुत्तस्स ।।३।।

वाह्य परिग्रह का त्याग भावों की विशुद्धि के लिए किया जाता है, परन्तु रागादिभावरूप अभ्यन्तर परिग्रह के त्याग विना वाह्य परिग्रह का त्याग निष्फल है ।

वाह्य परिग्रह त्याग देने पर भी यह आवश्यक नही कि अन्तरंग परिग्रह भी छूट ही जायेगा । यह भी हो सकता है कि वाह्य मे तिल-तुषमात्र भी परिग्रह न दिखाई दे, परन्तु अंतरंग मे चौदहो परिग्रह विद्यमान हों । द्रव्यलिंगी मिथ्यादृष्टि मुनियों के यही तो होता है । प्रथम गुणस्थान में होने से उनमें मिथ्यात्वादि सभी अतरंग परिग्रह पाये जाते है, पर वाह्य मे वे नग्न दिगम्वर होते हैं ।

'भगवती आराधना' मे स्पष्ट लिखा है :–

अब्भत्तरसोधीए गथे णियमेण वाहिरे च यदि ।
अब्भंतरमइलो चेव वाहिरे गेण्हदि हु गथे ।।१६१५।।
अब्भंतरसोधीए वाहिरसोधी वि होदि णियमेण ।
अब्भंतरदोसेण हु कुणदि, णरो वाहिरे दोसे ।।१६१६।।

अंतरग शुद्धि होनेपर वाह्य परिग्रह का नियम से त्याग होता है । अभ्यन्तर अशुद्ध परिणामो से ही वचन और शरीर से दोपो की उत्पत्ति होती है । अंतरग शुद्धि होने से वहिरग शुद्धि भी नियम से होती है । यदि अतरग परिणाम मलिन होगे तो मनुष्य शरीर और वचनों से भी दोप उत्पन्न करेगा ।

वस्तुत' वात तो यह है कि धन-धान्यादि स्वय में कोई परिग्रह नही हैं; वल्कि उनके ग्रहण का भाव, संग्रह का भाव – परिग्रह है । जव तक परपदार्थो के ग्रहण या सग्रह का भाव न हो तो मात्र परपदार्थों की उपस्थिति से परिग्रह नही होता; अन्यथा तीर्थंकरो के तेरहवे गुणस्थान मे होनेपर भी देह व समोशरणादि विभूतियो का परिग्रह मानना होगा, जवकि अंतरग परिग्रहो का सद्भाव दशवे गुणस्थान तक ही होता है ।

सभी वातो का ध्यान रखते हुए जिनागम मे परिग्रह की परिभाषा इसप्रकार दी गई है :–

"मूर्च्छा परिग्रहः"[1]

मूर्च्छा परिग्रह है।

मूर्च्छा की परिभाषा आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार करते है :-

"मूर्च्छा तु ममत्वपरिणाम."[2]

ममत्व परिणाम ही मूर्च्छा है।

प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका मे (गाथा २७८ की टीका में) आचार्य जयसेन ने लिखा है :-

"मूर्च्छा परिग्रह." इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूप-रागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति, न च बहिरगपरिग्रहानुसारेण।"

मूर्च्छा परिग्रह है – इस सूत्र में यह कहा गया है कि अंतरंग इच्छारूप रागादि परिणामो के अनुसार परिग्रह होता है, बहिरंग परिग्रह के अनुसार नही।

आचार्य पूज्यपाद तत्त्वार्थसूत्र की टीका सर्वार्थसिद्धि में लिखते हैं :-

"ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रह."[3]

यह वस्तु मेरी है – इसप्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है।

परिग्रह की उपर्यक्त परिभाषा और स्पष्टीकरणों से परपदार्थ स्वयं में कोई परिग्रह नही है – यह स्पष्ट हो जाता है। परपदार्थों के प्रति जो हमारा ममत्व है, राग है – वास्तव मे तो वही परिग्रह है। जब परपदार्थों के प्रति ममत्व छूटता है तो तद्नुसार बाह्य परिग्रह भी नियम से छूटता ही है। किन्तु बाह्य परिग्रह के छूटने से ममत्व के छूटने का नियम नही है – क्योकि पुण्य के अभाव और पाप के उदय में परपदार्थ तो अपने आप ही छूट जाते हैं, पर ममत्व नही छूटता; बल्कि कभी-कभी तो और अधिक बढ़ने लगता है।

परपदार्थ के छूटने से कोई अपरिग्रही नही होता; बल्कि उसके रखने का भाव, उसके प्रति एकत्वबुद्धि या ममत्व परिणाम छोड़ने से परिग्रह छूटता है – आत्मा अपरिग्रही अर्थात् आकिंचन्यधर्म का धनी बनता है।

---

[1] आचार्य उमास्वामी. तत्त्वार्थसूत्र अ० ७, सू० १७

[2] पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, छन्द १११

[3] सर्वार्थसिद्धि, अ० ६, सू० १५

शरीरादि परपदार्थों और रागादि चिद्विकारों में एकत्वबुद्धि, अहंबुद्धि ही मिथ्यात्व नामक प्रथम अंतरंग परिग्रह है। जब तक यह नहीं छूटता तब तक अन्य परिग्रहों के छूटने का प्रश्न ही नही उठता। पर इस मुग्ध जगत का इस ओर ध्यान ही नही है।

सारी दुनियाँ परिग्रह की चिन्ता मे ही दिन-रात एक कर रही है, मर रही है। कुछ लोग परपदार्थों के जोड़ने मे मग्न हैं, तो कुछ लोगों को धर्म के नाम पर उन्हे छोड़ने की धुन सवार है। यह कोई नहीं सोचता कि वे मेरे हैं ही नही, मेरे जोड़ने से जुडते नही और ऊपर-ऊपर से छोड़ने से छूटते भी नही। उनकी परिणति उनके अनुसार हो रही है, उसमें हमारे किए कुछ नही होता। यह आत्मा तो मात्र उन्हे जोड़ने या छोडने के विकल्प करता है, तदनुसार पाप-पुण्य का बंध भी करता रहता है।

पुण्य के उदय में अनुकूल परपदार्थों का बिना मिलाये भी सहज संयोग होता है। इसीप्रकार पाप के उदय मे प्रतिकूल परपदार्थो का संयोग होता रहता है। यद्यपि इसमें इसका कुछ भी वश नही चलता तथापि मिथ्यात्व और राग के कारण यह अज्ञानी जगत अनुकूल-प्रतिकूल संयोगों-वियोगों मे अहबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि किया करता है। यही अहंबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि मिथ्यात्व नामक सबसे खतरनाक परिग्रह है। सबसे पहिले इसे छोड़ना जरूरी है।

जिसप्रकार वृक्ष के पत्तों के सीचने से पत्ते नही पनपते, वरन् जड़ को सीचने से पत्ते पनपते है; उसीप्रकार समस्त अतरंग-बहिरग परिग्रह मिथ्यात्वरूपी जड़ से पनपते हैं। यदि हम चाहते हैं कि पत्ते सूख जावें तो पत्तों को तोड़ने से कुछ नही होगा, नवीन पत्ते निकल आवेंगे; पर यदि जड़ ही काट दी जावे तो फिर समय पाकर पत्ते आपो-आप सूख जायेंगे। उसीप्रकार मिथ्यात्वरूपी जड़ को काट देने पर बाकी के परिग्रह समय पाकर स्वत. छूटने लगेंगे।

जब यह बात कही जाती है तो लोग कहते हैं कि बस पर को अपना मानना नही है, छोडना तो कुछ है नही। यदि कुछ छोड़ना नही है तो फिर परिग्रह छूटेगा कैसे ?

अरे भाई ! छोड़ना क्यो नही है ? पर को अपना मानना छोड़ना है। जब पर को अपना मानना ही मिथ्यात्व नामक प्रथम परिग्रह है, तो उसे छोड़ने के लिए पर को अपना मानना ही छोड़ना होगा।

यद्यपि मानना छोडना (मत परिवर्तन) बहुत बडा त्याग है, काम है; तथापि इस जगत को इसमे कुछ छोडा – ऐसा लगता ही नही है। यदि दश-पाँच लाख रुपये छोड़े, स्त्री-पुत्रादि को छोड़े, तो कुछ छोडा-सा लगता है। पर इन्ही रुपयो को, स्त्री-पुत्रादि को अपना मानना छोड़े तो कुछ छोड़ा-सा नही लगता। यह सब मिथ्यात्व नामक परिग्रह की ही महिमा है। उसी के कारण जगत को ऐसा लगता है।

अरे भाई! यदि पर को अपना मानना छोड़े बिना उसे छोड भी दे, तो वह छूटेगा नही। पर को छोड़ने के लिए अथवा पर से छूटने के लिए सर्वप्रथम उसे अपना मानना छोडना होगा, तभी कालान्तर में वह छूटेगा। वह छूटेगा क्या, वह तो छूटा हुआ ही है। वस्तुत. यह जीव बलात् उसे अपना मान रहा है। अत. गहराई से विचार करे तो उसे अपना मानना ही छोड़ना है।

जगत के पदार्थ तो जगत में रहते हैं और रहेंगे – उन्हे क्या छोड़े और कैसे छोड़ें? उन्हे अपना मानना और ममत्व करना ही तो छोड़ना है।

देह को अपना मानना छोड़ने से, ममत्व छोड़ने से, उससे राग छूट जाने पर भी तत्काल देह छूट नही जाती; देह का परिग्रह छूट जाता है। देह तो समय पर अपने-आप छूटती है; पर देह में एकत्व और रागादि-त्यागी को फिर दुबारा देह धारण नही करनी पड़ती और जो लोग इससे एकत्व और राग नही छोड़ते हैं, उन्हे बार-बार देह धारण करनी पड़ती है।

यहाँ कोई कहे कि जिसप्रकार देह को नही, देह को अपना मानना छोड़ना है, देह से राग छोड़ना है, देह तो समय पर अपने-आप छूट जावेगी; उसीप्रकार हम मकान तो दश-दश रखे, पर उनसे ममत्व नही रखे, तो क्या मकान का परिग्रह नही होगा? यदि हाँ, तो फिर हम मकान तो खूब रखेंगे, बस उनसे ममत्व नही रखेंगे।

उससे कहते हैं कि भाई जरा विचार तो करो! यदि तुम मकान से ममत्व नही रखोगे तो मिथ्यात्व नामक अतरग परिग्रह छूटेगा, मकान (वास्तु) नामक वहिरंग परिग्रह नही। क्योंकि मकानादिरूप वाह्य परिग्रह तो प्रत्याख्यान सम्बन्धी राग (लोभादि) रूप अतरंग परिग्रह के छूटने पर छूटता है एवं अप्रत्याख्यान सम्बन्धी राग (लोभादि) रूप अंतरग परिग्रह छूटने पर मकानादि वाह्य परिग्रह

परिमित होते हैं। इसप्रकार उसे अपना मानना छोड़ने मात्र से बाह्य परिग्रह नहीं छूटता, अपितु तत्सम्बन्धी राग छूटने से छूटता है।

देह और मकान की स्थिति मे अन्तर है। देह से तो राग छूट जाने पर भी देह नही छूटती, पर मकान से राग छूट जाने पर मकान अवश्य ही छूट जाता है। पूर्ण वीतरागीसर्वज्ञ भी तेरहवे-चौदहवें गुणस्थान मे सदेह होते है, पर मकानादि बाह्य पदार्थों का संयोग छठवे-सातवें गुणस्थान में भी नही होता।

जैनदर्शन का अपरिग्रह सिद्धान्त समझने के लिए गहराई मे जाना होगा। ऊपर-ऊपर से विचार करने से काम नही चलेगा।

निश्चय से तो मकानादि छूटे ही हैं। अज्ञानी जीव ने उन्हे अपना मान रखा है, वे उसके हुए ही कब हैं? यह अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण स्वयं को उनका स्वामी मानता है, पर उन्होने इसके स्वामित्व को स्वीकार ही कहाँ किया? उन्होंने इसे अपना स्वामी कब माना?

यह जीव बड़े अभिमान से कहता है कि मैंने यह मकान पच्चीस हजार में निकाल दिया। पर विचार तो करो कि इसने मकान को निकाला है या मकान ने इसे? मकान तो अभी भी अपने स्थान पर ही खड़ा है। स्थान तो इसी ने बदला है।

मकानादि परपदार्थों को अपना मानना मिथ्यात्व नामक अंतरंग परिग्रह है, और उनसे रागद्वेषादि करना – क्रोधादिरूप अन्तरंग परिग्रह हैं; मकानादि बहिरंग परिग्रह हैं। परपदार्थों को मात्र अपना मानना छोड़ने से बहिरंग परिग्रह नही छूटता, अपितु उन्हे अपना मानने के साथ उनसे रागादि छोड़ने से छूटता है।

पर इसी परिग्रही वणिक समाज ने अपरिग्रही जिनधर्म में भी रास्ते निकाल लिए हैं। जिसप्रकार समस्त धन का मालिक एवं नियामक स्वयं होने पर भी राज्य के नियमों से बचने के लिए आज इसके द्वारा अनेक रास्ते निकाल लिए गए हैं – दूसरे व्यक्ति के नाम सम्पत्ति बताना, नकली संस्थाएँ खड़ी कर लेना आदि। उसीप्रकार धर्मक्षेत्र मे भी यह सब दिखाई दे रहा है – शरीर पर तन्तु भी न रखने वाले नग्न दिगम्बरों को जब अनेक संस्थाओं, मन्दिरों, मठों, बसों आदिका रुचिपूर्वक सक्रिय संचालन करते देखते हैं तो शर्म से माथा झुक जाता है।

जब साक्षात् देखते हैं कि उनकी मर्जी के बिना बस एक कदम भी नही चल सकती तब कैसे समझ मे आवे कि इससे उनका कोई सम्बन्ध नही है। लौट-फिर कर बात वही आ जाती है कि अन्तरंग परिग्रह त्यागे बिना यदि बाह्य परिग्रह छोडा जाएगा तो यही सब कुछ होगा,क्योकि अन्तरंग परिग्रह के त्याग के बिना बहिरंग परिग्रह का भी वास्तविक त्याग नहीं हो सकता। फिर भी शास्त्रों मे नववें ग्रैवेयक तक जाने वाले जिन द्रव्यलिगी-मिथ्यादृष्टि मुनिराजों की चर्चा है, उनके तो तिल-तुषमात्र बाह्य परिग्रह और उससे लगाव देखने में नही आता। अन्तर्दृष्टि विना उनके द्रव्यलिगत्व का पता लगाना असभव-सा ही है।

मिथ्यात्वादि अन्तरग परिग्रह के त्याग पर बल देने का आशय यह नही है कि बहिरग परिग्रह के त्याग की कोई आवश्यकता नही है या उसका कोई महत्त्व नही है। अन्तरग परिग्रह के त्याग के साथ-साथ बहिरंग परिग्रह का त्याग भी नियम से होता है, उसकी भी अपनी उपयोगिता है, महत्त्व भी है; पर यह जगत बाह्य में ही इतना उलझा रहता है कि उसे अन्तरग की कोई खबर ही नही रहती। इस कारण यहाँ अन्तरंग परिग्रह की ओर विशेष ध्यान आकर्षित किया गया है।

जिसके भूमिकानुसार बाह्य परिग्रह का त्याग नही है, उसके अन्तरग परिग्रह के त्याग की बात भी कोरी कल्पना है। यदि कोई कहे कि हमने तो अन्तरंग परिग्रह का त्याग कर दिया है, अब बहिरंग बना रहे तो क्या ? तो उसका यह कहना एक प्रकार से छल है, क्योंकि अन्तरंग मे राग के त्याग होने पर तदनुसार बाह्य परिग्रह के सयोग का त्याग भी अनिवार्य है। यह नही हो सकता कि अन्तरंग मे मिथ्यात्व; अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यान एवं प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ का अभाव हो जावे और बाहर मे नग्न दिगम्बर दशा न हो। उक्त अन्तरग परिग्रहों के अभाव में बाह्य मे सर्व परिग्रह के त्यागरूप नग्न दिगम्बर दशा होगी ही।

आकिंचन्यधर्म का धारी अकिंचन्य बनने के लिए सबसे प्रथम आकिंचन्यधर्म का वास्तविक स्वरूप जानना होगा, मानना होगा, समस्त परपदार्थों से भिन्न निजात्मा का अनुभव करना होगा। तत्पश्चात् अन्तरंग परिग्रहरूप कषायो के अभावपूर्वक तदनुसार बाह्य परिग्रह का भी बुद्धिपूर्वक, विकल्पपूर्वक त्याग करना होगा।

यद्यपि यहाँ आकिंचन्यधर्म का वर्णन मुनिभूमिका की अपेक्षा चल रहा है, अतः परिग्रह के पूर्णत्याग की बात आती है; तथापि गृहस्थों को यह सोचकर कि हम तो परिग्रह के पूर्णत त्यागी हो नही सकते – आकिंचन्यधर्म धारण करने से उदासीन नही होना चाहिए। उन्हे भी अपनी भूमिकानुसार अन्तरग-वहिरंग परिग्रह का त्याग अवश्य करना चाहिये।

जिनधर्म के अपरिग्रह सिद्धान्त अर्थात् आकिचन्यधर्म पर यह आक्षेप लगाया जाता है कि अपरिग्रह धर्म को मानने वाले जैनियो के पास सर्वाधिक परिग्रह है; पर गहराई से विचार करने पर इसमे कोई दम नजर नही आता। यह कहकर मैं यह नही कहना चाहता कि आज के जैनी अपरिग्रही है। पर वात यह है कि पुण्योदय से प्राप्त होने वाले अनुकूल सयोगो को लक्ष्य मे रखकर ही यह आक्षेप लगाया जाता है, कपायचक्ररूप अतरग परिग्रह को लक्ष्य मे रखकर नही, क्योकि कषायचक्ररूप अतरग परिग्रहो मे तो जैनेतर भी जैनियो से पीछे नही है।

वाह्य विभूति भी जैनियों के पास जितनी दुनियाँ समझती है, उतनी नही है। दिखावा अधिक होने से दुनियाँ को ऐसा लगता है। यदि है भी तो सदाचाररूप जीवन के कारण है, सप्तव्यसनादि का अभाव होने से सहज सम्पन्नता दिखाई देती है। जिस दिन जैनसमाज से सदाचार उठ जायेगा, उस दिन उसकी भी वही दशा होगी जो व्यसनी समाज की होती है।

एक वात यह भी विचारणीय है कि धर्म की दृष्टि से गृहस्थावस्था मे सच्चे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जैनी भी चक्रवर्ती हो सकते है, हुए भी हैं। भरत चक्रवर्ती आदि के जैनत्व मे शका नही की जा सकती है। चक्रवर्ती से अधिक परिग्रह तो आज के जैनियो के पास हो नही गया है। यह कहकर मै जैनियो को वाह्य परिग्रह जोड़ना चाहिए, इस वात की पुष्टि नही करना चाहता; वल्कि यह कहना चाहता हूँ कि जैनधर्म के अनुसार वे अपरिग्रह के सिद्धान्त का कहाँ तक उल्लघन कर रहे है, यह वात भी विचारणीय है।

जिनधर्म मे अपरिग्रह सिद्धान्त को प्रायोगिकरूप देने के लिए कुछ स्तर निश्चित है। किस स्तर का जैन कितना परिग्रह का त्याग करता है – इसका विस्तृत वर्णन मुनि और श्रावक के आचार के

वर्णन करने वाले चरणानुयोग के ग्रन्थो मे विस्तार से किया गया है। तदनुसार मुनिराज के जब रंचमात्र भी बाह्य परिग्रह नही होता तब अणुव्रती गृहस्थ अपने बाह्य परिग्रह को अपनी शक्ति और आवश्यकता के अनुसार सीमित कर लेता है। यद्यपि अव्रती गृहस्थ भी अन्याय से धनोपार्जन नही करता, तथापि उसके परिग्रह की कोई सीमा निर्धारित नही की गई है, उनमें चक्रवर्ती भी होते हैं।

इसप्रकार जैनियों मे अनेक भेद पडते हैं। यदि जैनमुनि एक सूत के बराबर भी परिग्रह रखे तो वह मुनि नही और यदि अव्रती श्रावक छहखण्ड की विभूति का भी मालिक हो तो उसके कारण उसके जैनत्व मे कोई कमी नही आती, क्योकि वह क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी हो सकता है।

यद्यपि बाह्यविभूति और उसे रखने का भाव जैनत्व मे बाधक नही, तथापि रचमात्र भी परिग्रह रखने वाले को मुक्ति प्राप्त नही होती। अत. मुक्ति के अभिलाषी को तो समस्त परिग्रह का त्याग करना ही चाहिए।

अपरिग्रह की तुलना समाजवाद से भी की जाती है। कुछ लोग तो दोनो को एक ही कहने लगे है। पर दोनो मे मूलभूत अतर यह है कि जहाँ समाजवाद का सम्बन्ध मात्र बाह्य वस्तुओ से है, उनके समान वितरण से है; वहाँ अपरिग्रह में कषायो का त्याग मुख्य है। यदि बाह्य परिग्रह से भी समाजवाद की तुलना करें तो भी दोनो के दृष्टिकोण मे अतर स्पष्ट दिखाई देता है।

समाजवाद के दृष्टिकोण के अनुसार यदि भोगसामग्री की कमी नही है और वह सबको इच्छानुसार प्राप्त है तो फिर उसके त्याग का या सीमित उपयोग का कोई प्रयोजन नही है, पर अपरिग्रह के दृष्टिकोण से यह बात नही है; भले ही सभी को असीमित भोग प्राप्त हो, फिर भी हमे अपनी इच्छाओं को सीमित करना ही चाहिए।

अनाज की कमी से सप्ताह में एक दिन भोजन नही करना अलग बात है और किसी भी प्रकार की कमी न होने पर भी भोजन का त्याग दूसरी बात है।

समाजवादी दृष्टिकोण पूर्णतः आर्थिक है, जबकि अपरिग्रह की दृष्टि पूर्णतः आध्यात्मिक है। यदि सबके पास कार हो और तुम भी रखो तो समाजवाद को कोई ऐतराज नही होगा; पर अपरिग्रह

कहता है तुम्हें औरों से क्या, तुम तो अपनी इच्छाओ को त्यागो अथवा सीमित करो।

समाजवादी दृष्टिकोण में परिग्रह को सीमित करने की बात तो कुछ बैठ भी सकती है, पर परिग्रह-त्याग की बात कैसे बैठेगी ? क्या कोई समाजवादी यह भी चाहता है कि सम्पूर्ण परिग्रह त्याग दिया जाय और सभी नग्न दिगम्बर हो जाये ? नही, कदापि नहीं। पर अपरिग्रह तो पूर्णत त्याग का ही नाम है, सीमित परिग्रह रखने को परिग्रह-परिमाण कहा जाता है, अपरिग्रह नही।

यहाँ जिस आकिंचन्यधर्मरूप अपरिग्रह की बात चल रही है, वह तो नग्न दिगम्बर मुनिराजों के ही होता है। यदि सबके पास मोटर-कार हो जायगी तो क्या नग्न दिगम्बर मुनिराज को मोटर-कार मे बैठने मे आपत्ति नही होगी ? यदि समाजवाद ही अपरिग्रह है तो फिर मुनिराज को भी कार रखने मे कोई आपत्ति नही होनी चाहिए। अथवा रेल, मोटर, बस आदि जो सवारी जनसाधारण को आज भी उपलब्ध हैं उनमे भी अपरिग्रही मुनिराज क्यो नही बैठते है ? इससे स्पष्ट है कि समाजवाद से अपरिग्रह का दृष्टिकोण एकदम भिन्न है।

अपरिग्रह का उत्कृष्ट रूप नग्न दिगम्बर दशा है जो कि समाजवाद का आदर्श कभी नही हो सकता। समाजवाद की समस्या भोग-सामग्री के समान वितरण की है और अपरिग्रह का अन्तिम उद्देश्य भोग-सामग्री और भोग के भाव का भी पूर्णत. त्याग है।

यहाँ समाजवाद के विरोध या समर्थन की बात नही कही जा रही है, अपितु अपरिग्रह और समाजवाद के दृष्टिकोण मे मूलभूत अन्तर क्या है – यह स्पष्ट किया जा रहा है।

समाजवाद मे क्रोधादिरूप अन्तरंग परिग्रह और धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह के पूर्णत: त्याग के लिए भी कोई स्थान नही है, जबकि अपरिग्रह में उक्त दोनों बातें ही मुख्य हैं। अत. यह निश्चिन्त होकर कहा जा सकता है कि समाजवाद को ही अपरिग्रह कहने वाले समाजवाद का सही स्वरूप समझते हों या नही; पर अपरिग्रह का स्वरूप उनकी दृष्टि मे निश्चितरूप से नही है।

यद्यपि परिग्रह सबसे बड़ा पाप है, जैसाकि पहले सिद्ध किया जा चुका है; तथापि जगत में जिसके पास अधिक बाह्य परिग्रह देखने में आता है, उसे पुण्यात्मा कहा जाता है। शास्त्रो में भी कही-कही उसे

पुण्यात्मा कह दिया गया है। भाग्यशाली तो उसे सारी दुनियाँ कहती ही है।

हिंसक को कोई पुण्यात्मा नही कहता, असत्यवादी और चोर भी पापी ही कहे जाते हैं। इसीप्रकार व्यभिचारी भी जगत की दृष्टि मे पापी ही गिना जाता है। जब उक्त चारो पापों के कर्त्ता पापी माने जाते हैं, तब न जाने परिग्रही को पुण्यात्मा, भाग्यशाली क्यो कहा जाता है ? कुछ लोग तो उन्हे धर्मात्मा तक कह देते हैं। धर्मात्मा ही क्यो, न जाने क्या-क्या कह देते हैं ? तभी तो भर्तृहरि को लिखना पड़ा :—

यस्यास्ति वित्त स नरः कुलीन:,
स पण्डित स श्रुतवान् गुणज्ञ.।
स एव वक्ता स च दर्शनीय,
सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति ॥४१॥[1]

जिसके पास धन है—वही कुलीन (अच्छे कुल मे उत्पन्न) है, वही विद्वान है, वही शास्त्रज्ञ है, वही गुणो का जानकार है, वही वक्ता है, और वही दर्शनीय भी है, क्योकि सब गुण सुवर्ण (धन) मे ही आश्रय प्राप्त करते है।

तो क्या परिग्रही को पुण्यात्मा अकारण कहा जाता है ? ऊपर से तो ऐसा ही लगता है, पर गहराई से विचार करने पर प्रतीत होता है कि इसका भी कारण है और वह यह है कि हिंसादिपाप—कारण, स्वरूप एवं फल—तीनो ही रूप मे पापस्वरूप ही हैं; क्योकि उनके कारण भी पापभाव है, वे पापभावस्वरूप तो है ही, तथा उनका फल भी पाप का बंध ही है। किन्तु परिग्रह मे विशेषकर बाह्य परिग्रह के दृष्टिकोण से देखने पर इनमे अन्तर आ जाता है। बाह्य-विभूतिरूप परिग्रह का कारण पुण्योदय है, पर है वह पापस्वरूप ही, फिर भी यदि उसे भोग मे लिया जाय तो पापबध का कारण बनता है, किन्तु यदि शुभभावपूर्वक शुभकार्य मे लगा दिया जाय तो पुण्यबध का कारण बन जाता है। कहा भी है —

'बहुधन बुराहू, भला कहिए लीन पर-उपगार सो'।[2]

---

[1] नीतिशतक, छन्द ४१

[2] दशलक्षण पूजन, आकिंचन्यधर्म का छन्द

इसप्रकार बाह्यपरिग्रह का – कारण पुण्य, स्वरूप पाप, और फल अशुभ मे लगने पर पाप व शुभ मे लगने पर पुण्य हुआ ।

यहाँ कोई कहे कि यदि यह बात है तो परिग्रह को पाप कहा ही क्यो है ?

वह भले ही पुण्योदय से प्राप्त होता है, पर है तो पाप ही । वह ऐसा वृक्ष है जिसमे बीज पड़ा था पुण्य का, वृक्ष उगा पाप का, और फल लगे ऐसे कि खावे तो मरे अर्थात् पाप बाधे और त्यागे तो जीवे अर्थात् पुण्य बाँधे । यह विविधता इसके स्वभाव मे ही पडी है । यही कारण है कि सबसे बड़ा पाप होने पर भी जगत मे परिग्रही को पुण्यात्मा कह दिया जाता है ।

वस्तुत बात तो ऐसी है कि पाप के उदय से कोई पापी और पुण्य के उदय से कोई पुण्यात्मा नही होता, परन्तु पापभाव करे सो पापी, पुण्यभाव करे सो पुण्यात्मा, और धर्मभाव करे सो धर्मात्मा होता है । अन्यथा पूर्ण धर्मात्मा भावलिगी मुनिराजो को भी पापी मानना होगा, क्योकि उनके भी पाप का उदय आ जाता है, उससे उन्हे अनेक उपसर्ग एव कुष्टादि व्याधियाँ हो जाती है, पर वे पापी नही हो जाते, धर्मभाव के धनी होने से धर्मात्मा ही रहते हैं । इसी प्रकार किसी वेश्या या डाकू के पास बहुत धनादि हो जाने से वे पुण्यात्मा नही हो जाते, पापी ही रहते हैं ।

जगत कुछ भी कहे पर सब पापो की जड़ होने से परिग्रह सबसे बडा पाप है और सर्व कषायो और मिथ्यात्व के अभावरूप होने से आकिञ्चन्य सबसे बडा धर्म है ।

इस उत्तम आकिचन्यधर्म को धारण कर सभी प्राणी पूर्ण सुख को प्राप्त करे, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ ।



उत्तमब्रह्मचर्य

ब्रह्म अर्थात् निजशुद्धात्मा में चरना, रमना ही ब्रह्मचर्य है। जैसाकि 'अनगार धर्मामृत' मे कहा है –

या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुचप्रवृत्ति ।
तद् ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौम ये पान्ति ते यान्ति पर प्रमोदम् ॥४/६०॥

परद्रव्यो से रहित शुद्ध-वुद्ध अपने आत्मा मे जो चर्या अर्थात् लीनता होती है, उसे ही ब्रह्मचर्य कहते हैं। व्रतों मे सर्वश्रेष्ठ इस ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करते हैं, वे अतीन्द्रिय आनद को प्राप्त करते हैं।

इसीप्रकार का भाव 'भगवती आराधना'[1] एवं 'पद्मनदि-पचविंशतिका'[2] मे भी प्रकट किया गया है।

यद्यपि निजात्मा मे लीनता ही ब्रह्मचर्य है; तथापि जब तक हम अपने आत्मा को जानेगे नही, मानेगे नही, तव तक उसमे लीनता कैसे सभव है ? इसलिए कहा गया है कि आत्मलीनता अर्थात् सम्यक्-चारित्र आत्मज्ञान एवं आत्मश्रद्धानपूर्वक ही होता है। ब्रह्मचर्य के साथ लगा उत्तम शब्द भी यही ज्ञान कराता है कि सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान सहित आत्मलीनता ही उत्तमब्रह्मचर्य है।

अत यह स्पष्ट है कि निश्चय से ज्ञानानदस्वभावी निजात्मा को ही निज मानना, जानना और उसी मे जम जाना, रम जाना, लीन हो जाना ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

---

[1] जीवो बभा जीवम्मि चेव चरियाहविज्ज जा जणिदो ।
त जाण बभचेर विमुक्कापरदेहतित्तिस्स ॥८७८॥
जीव ब्रह्म है, देह की सेवा से विरक्त होकर जीव मे ही जो चर्या होती है उसे ब्रह्मचर्य जानो।

[2] आत्मा ब्रह्म विविक्तवोधनिलयो यत्तत्र चर्यं पर ।
स्वाङ्गासगविवर्जितैकमनसस्तद्ब्रह्मचर्यं मुने. ॥
ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है। उस आत्मा मे लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर से निर्ममत्व हो गया, उसी के वास्तविक ब्रह्मचर्य होता है।

आज जो ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ समझा जाता है वह अत्यन्त स्थूल है। आज मात्र स्पर्शन इन्द्रिय के विषय-सेवन के त्यागरूप व्यवहार ब्रह्मचर्य को ही ब्रह्मचर्य माना जाता है। स्पर्शन इन्द्रिय के भी संपूर्ण विषयो के त्याग को नही, मात्र एक क्रियाविशेष (मैथुन) के त्याग को ही ब्रह्मचर्य कहा जाता है, जबकि स्पर्शन इन्द्रिय का भोग तो अनेक प्रकार से संभव है।

स्पर्शन इन्द्रिय के विषय आठ हैं :—

१ ठडा, २. गरम, ३. कड़ा, ४. नरम, ५. सूखा, ६. चिकना, ७. हलका, और ८. भारी।

इन आठों ही विषयो में आनंद अनुभव करना स्पर्शन इन्द्रिय के विषयो का ही सेवन है। गर्मियों के दिनों में कूलर एवं सर्दियो में हीटर का आनद लेना स्पर्शन इन्द्रिय का ही भोग है। इसीप्रकार डनलप के नरम गद्दों और कठोर आसनो के प्रयोग मे आनन्द अनुभव करना तथा रूखे-चिकने व हल्के-भारी स्पर्शों मे सुखानुभूति – यह सब स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय है। पर अपने को ब्रह्मचारी मानने वालो ने कभी इस ओर भी ध्यान दिया है कि ये सब स्पर्शन इन्द्रिय के विषय है, हमे इनमे भी सुखबुद्धि त्यागनी होगी। इनसे भी विरत होना चाहिये।

इससे यह सिद्ध होता है कि हम स्पर्शन इन्द्रिय के भी संपूर्ण भोग को ब्रह्मचर्य का घातक नही मानते, अपितु एक क्रियाविशेष (मैथुन) को ही ब्रह्मचर्य का घातक मानते हैं, और जैसे-तैसे मात्र उससे बच कर अपने को ब्रह्मचारी मान लेते हैं।

यदि आत्मलीनता का नाम ब्रह्मचर्य है तो क्या स्पर्शन इन्द्रिय के विषय ही आत्मलीनता मे बाधक हैं, अन्य चार इन्द्रियो के विषय क्या आत्मलीनता मे बाधक नही है ? यदि हैं, तो उनके भी त्याग को ब्रह्मचर्य कहा जाना चाहिये। क्या रसना इन्द्रिय के स्वाद लेते समय आत्मस्वाद लिया जा सकता है ? इसीप्रकार क्या सिनेमा देखते समय आत्मा देखा जा सकता है ? नही, कदापि नही।

आत्मा किसी भी इन्द्रिय के विषय मे क्यो न उलझा हो, उस समय आत्मलीनता सभव नही है। जबतक पाँचो इन्द्रियों के विषयो से प्रवृत्ति नही रुकेगी तब तक आत्मलीनता नही होगी और जब तक आत्मलीनता नही होगी तब तक पचेन्द्रियो के विषयो से प्रवृत्ति का रुकना भी संभव नही है।

इसप्रकार पचेन्द्रिय के विषयो से प्रवृत्ति की निवृत्ति यदि नास्ति से ब्रह्मचर्य है तो आत्मलीनता अस्ति से।

यदि कोई कहे कि शास्त्रों मे भी तो कामभोग के त्याग को ही ब्रह्मचर्य लिखा है। हम भी ऐसा ही मानते है, इसमें हमारी भूल क्या है ?

सुनो ! शास्त्रों में कामभोग के त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है, सो ठीक ही कहा है। पर कामभोग का अर्थ केवल स्पर्शन-इन्द्रिय का ही भोग लेना – यह कहाँ कहा ? समयसार की चौथी गाथा की टीका करते हुए आचार्य जयसेन ने स्पर्शन और रसना इन्द्रियो के विषयों को माना है काम; और घ्राण, चक्षु, कर्ण इन्द्रिय के विषयों को माना है भोग। इसप्रकार उन्होने काम और भोग में पंचेन्द्रिय विषयों को ले लिया है। पर हम इस अर्थ को कहाँ मानते हैं ! हमने तो काम और भोग को एकार्थवाची मान लिया है और उसका भी अर्थ एक क्रिया-विशेष (मैथुन) से सबंधित कर दिया है। मात्र एक क्रियाविशेष को छोडकर पाँचों इन्द्रियों के विषयों को भरपूर भोगते हुये भी अपने को ब्रह्मचारी मान बैठे हैं।

जब आचार्यों ने काम और भोग के विरुद्ध आवाज लगाई तो उनका आशय पाँचों इन्द्रियों के विषयो के त्याग से था, न कि मात्र मैथुनक्रिया के त्याग से। आज भी जब किसी को ब्रह्मचर्यव्रत दिया जाता है तो साथ मे पाँचो पापो से निवृत्ति कराई जाती है; सादा खान-पान, सादा रहन-सहन रखने की प्रेरणा दी जाती है; सर्व प्रकार के शृंगारो का त्याग कराया जाता है। अभक्ष्य एवं गरिष्ठ भोजन का त्याग आदि बाते पचेन्द्रियों के विषयो के त्याग की ओर ही सकेत करती हैं।

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र मे ब्रह्मचर्यव्रत की भावनाओ और अतिचारों की चर्चा करते हुए लिखा है :–

स्त्रीरागकथाश्रवणतनमनोहरागनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरणवृष्येष्टरसस्वशरीरसंस्कारत्यागा. पंच ।। अध्याय ७, सूत्र ७।

परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहितापरिगृहीतागमनानगक्रीड़ाकामतीव्राभिनिवेषा ।। अध्याय ७, सूत्र २८।

इसमे श्रवण, निरीक्षण, स्मरण, रसस्वाद, शृंगार, अनंग क्रीड़ा आदि को ब्रह्मचर्य का घातक कहा गया है।

यदि हम पंचेन्द्रिय के विषयों में निर्वाध प्रवृत्ति करते रहे और मात्र स्त्री-संसर्ग का त्याग कर अपने को ब्रह्मचारी मान बैठे तो यह एक भ्रम ही है। तथा यदि स्त्री-संसर्ग के साथ-साथ पचेन्द्रिय के विषयों को भी बाह्य से छोड दे, गरिष्ठादि भोजन भी न करे; फिर भी यदि आत्मलीनतारूप ब्रह्मचर्य अन्तर मे प्रकट नही हुआ तो भी हम सच्चे ब्रह्मचारी नही हो पावेंगे। अत. आत्मलीनतापूर्वक पचेन्द्रिय के विपयो का त्याग ही वास्तविक ब्रह्मचर्य है।

यद्यपि शास्त्रों मे आचार्यों ने भी ब्रह्मचर्य की चर्चा करते हुए स्पर्शन-इन्द्रिय के विपय-त्याग पर ही अधिक बल दिया है, कही-कही तो रसनादि इन्द्रियो के विषयो के त्याग की चर्चा तक नही की है; तथापि उसका अर्थ यह कदापि नही कि उन्होने रसनादि चार इन्द्रियो के विषयों के सेवन को ब्रह्मचर्य का घातक नही माना, उनके सेवन की छूट दे रखी है। जव वे स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतने की वात करते हैं तो उनका आशय पाँचों इन्द्रियों के विपयो के त्याग से ही रहता है, क्योंकि स्पर्शन में पाँचो इन्द्रियाँ गर्भित है। आखिर नाक, कान, आँखें शरीररूप स्पर्शनेन्द्रिय के ही तो अग हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय सारा ही शरीर है, जवकि शेष चार इन्द्रियाँ उसके ही अश (Parts) हैं। स्पर्शन इन्द्रिय व्यापक है, शेष चार इन्द्रियाँ व्याप्य है।

जैसे भारत कहने में राजस्थान, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र आदि सारे प्रदेश आ जाते हैं, पर राजरथान कहने मे पूरा भारत नही आता; उसीप्रकार शरीर कहने मे आँख, कान, नाक आ जाते है, आँख-कान कहने मे पूरा शरीर नही आता।

इसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय का क्षेत्र विस्तृत और अन्य इन्द्रियो का संकुचित है।

जिसप्रकार भारत को जीत लेने पर सभी प्रान्त जीत लिये गये– ऐसा मानने मे कोई आपत्ति नही, पर राजस्थान को जीतने पर सारा भारत जीत लिया–ऐसा नही माना जा सकता है; इसीप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय को जीन लेने पर सभी इन्द्रियाँ जीत ली जानी है, पर रसनादि के जीतने पर स्पर्शन-इन्द्रिय जीत ली गयी–ऐसा नही माना जा सकता।

अत. यह कहना अनुचित नही कि स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतने वाला ब्रह्मचारी है, पर उक्त कथन का आशय पचेन्द्रियो को जीतने से ही है।

यदि कर्ण-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहते तो फिर चार-इन्द्रिय जीवों को ब्रह्मचारी मानना पड़ता, क्योंकि उनके कर्ण है ही नही, तो कर्ण के विषय का सेवन कैसे संभव है ? इसी-प्रकार चक्षु-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर तीन-इन्द्रिय जीवो को, घ्राण के विषयाभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर दो-इन्द्रिय जीवो को, रसना के विषयाभाव को ब्रह्मचर्य कहने पर एकेन्द्रिय जीवो को ब्रह्मचारी मानने का प्रसंग प्राप्त होता है; क्योकि उनके उक्त इन्द्रियों का अभाव होने से उनका विषयसेवन सम्भव नही है।

इसी क्रम मे यदि कहा जाय कि इसप्रकार तो फिर यदि स्पर्शन-इन्द्रिय के विषयसेवन के अभाव को ब्रह्मचर्य मानने पर स्पर्शन-इन्द्रियरहित जीवो को ब्रह्मचारी मानना होगा – तो इसमें हमें कोई आपत्ति नही, क्योकि स्पर्शन-इन्द्रिय से रहित सिद्ध भगवान ही हैं और वे पूर्ण ब्रह्मचारी है ही। ससारी जीवो मे तो कोई ऐसा है नही, जो स्पर्शन-इन्द्रिय से रहित हो।

इसप्रकार स्पर्शन-इन्द्रिय के विषयत्याग को ब्रह्मचर्य कहने मे कोई दोष नही आता।

इसीप्रकार मात्र क्रियाविशेष (मैथुन) के अभाव को ही ब्रह्मचर्य माने तो फिर पृथ्वी, जलकायादि जीवो को भी ब्रह्मचारी मानना होगा, क्योकि उनके मैथुनक्रिया देखने में नही आती।

यदि आप कहे कि एकेन्द्रियादि जीवों को ब्रह्मचारी मानने में क्या आपत्ति है ?

यही कि उनके आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य नही है, आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य सैनी पचेन्द्रिय के ही होता है; तथा एकेन्द्रियादि जीवो के मोक्ष भी मानना पड़ता, क्योकि ब्रह्मचर्यधर्म को पूर्णत धारण करने वाले मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त करते ही हैं।

कहा भी है :–

'द्यानत धर्म दश पैड चढिके, शिवमहल मे पग धरा।'

द्यानतरायजी कहते हैं कि दशधर्मरूपी पेड़ियों (सीढियो) पर चढकर शिवमहल मे पहुँचते हैं। दशधर्मरूपी सीढ़ियों में दशवी सीढी है ब्रह्मचर्य, उसके वाद तो मोक्ष ही है।

चार इन्द्रियाँ हैं खण्ड-खण्ड, और स्पर्शन-इन्द्रिय है अखण्ड; क्योकि आत्मा के प्रदेशों का आकार एवं स्पर्शन-इन्द्रिय का आकार

बराबर एवं एक-सा है, जबकि अन्य इन्द्रियों के साथ ऐसा नहीं है। अखण्ड पद की प्राप्ति के लिए अखण्ड इन्द्रिय को जीतना आवश्यक है।

जितने क्षेत्र का स्वामित्व या प्रतिनिधित्व प्राप्त करना हो उतने क्षेत्र को जीतना होगा; ऐसा नहीं हो सकता कि हम जीतें राजस्थान को और स्वामी बन जायें पूरे हिन्दुस्तान के। हम चुनाव लड़े नगरनिगम का और बन जाये भारत के प्रधानमंत्री। भारत का प्रधानमंत्री बनना है तो लोकसभा का चुनाव लडना होगा और समस्त भारत मे से चुने हुए प्रतिनिधियो का बहुमत प्राप्त करना होगा। उसीप्रकार ऐसा नहीं हो सकता हम जीते खण्ड इन्द्रियो को और प्राप्त कर ले अखण्ड पद को। अखण्ड पद को प्राप्त करने के लिये जिसमें पाँचों ही इन्द्रियाँ गर्भित हैं ऐसी अखण्ड स्पर्शन-इन्द्रिय को जीतना होगा।

यही कारण है कि आचार्यों ने प्रमुखरूप से स्पर्शन-इन्द्रिय के जीतने को ब्रह्मचर्य कहा है।

रसनादि चार इन्द्रियाँ न हो तो भी सांसारिक जीवन चल सकता है, पर स्पर्शन-इन्द्रिय के बिना नहीं। आँखे फूटी हो, कान से कुछ सुनाई नहीं पड़ता हो, तो भी जीवन चलने मे कोई बाधा नहीं, पर स्पर्शन-इन्द्रिय के बिना तो सांसारिक जीवन की कल्पना भी सम्भव नहीं है।

आँख-कान-नाक के विषयो का सेवन तो कभी-कभी होता है, पर स्पर्शन का तो सदा चालू ही है। बदबू आवे तो नाक बन्द की जा सकती है, तेज आवाज मे कान भी बन्द किये जा सकते हैं। आँख का भी बन्द करना सम्भव है। इसप्रकार आँख, नाक, कान बन्द किये जा सकते हैं, पर स्पर्शन का क्या बन्द करें? वह तो सर्दी-गर्मी, रूखा-चिकना, कडा-नरम का अनुभव किया ही करती है।

रसना का आनन्द खाते समय ही आता है। इसीप्रकार घ्राण का सूंघते समय, चक्षु का देखते समय तथा कर्ण का मधुर वाणी सुनते समय ही योग होता है; पर स्पर्शन का विषय तो चालू ही है।

अतः स्पर्शन-इन्द्रिय क्षेत्र से तो अखण्ड है ही, काल से भी अखण्ड है। शेष चार इन्द्रियाँ न क्षेत्र से अखण्ड है, न काल से।

चारों इन्द्रियों के कालसंबंधी खण्डपने एव स्पर्शन के अखण्डपने का एक कारण और भी है। वह यह कि स्पर्शन-इन्द्रिय का साथ तो

अनादि से लेकर आजतक अखण्डपने है, कभी भी उसका साथ छूटा नही। कभी ऐसा नही हुआ कि आत्मा के साथ संसारदशा में स्पर्शन-इन्द्रिय न रहे। पर शेष चार इन्द्रियाँ अनादि की तो है ही नही, क्योकि निगोद मे थी ही नही। जब से उनका संयोग हुआ है, छूट भी अनेक बार गयी है। ये आनी-जानी हैं; आती हैं, चली जाती हैं, फिर आ जाती हैं। इनसे छूटना न तो कठिन है, और न लाभदायक ही; पर स्पर्शन-इन्द्रिय का छूटना जितना कठिन है, उससे अधिक लाभदायक भी। क्योकि इसके छूट जाने पर जीव को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह एक बार पूर्णतः छूट जावे तो दुबारा इसका संयोग नही होता।

चार इन्द्रियों की गुलामी तो कभी-कभी ही करनी पड़ी है, पर इस स्पर्शन के गुलाम तो हम सब अनादि से हैं। इसकी गुलामी छूटे बिना, गुलामी छूटती ही नही।

जब तक स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय को जीतेंगे नही तब तक हम पूर्ण सुखी, पूर्ण स्वतत्र नही हो सकेंगे। इस स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय को अपना महान शत्रु, त्रैकालिक शत्रु, सार्वभौमिक शत्रु जानकर ही आचार्यों ने इसके विषय-त्याग को ब्रह्मचर्य घोषित किया है। पर इसका आशय यह कदापि नही कि हम चार इन्द्रियो के विषयो को भोगते हुये सुखी हो जावेंगे। क्योकि मर्म की बात तो यह है कि जब तक यह आत्मा आत्मा मे लीन नही होगा, किसी न किसी इन्द्रिय का विषय चलता ही रहेगा और जब यह आत्मा आत्मामें लीन हो जावेगा तो किसी भी इन्द्रिय का विषय नही रहेगा।

अत यह निश्चित हुआ कि पंचेन्द्रिय के विषयो के त्यागपूर्वक हुई आत्मलीनता ही ब्रह्मचर्य है।

पचेन्द्रिय के विषय के भोगों के त्याग की बात तो यह जगत आसानी से स्वीकार कर लेता है, किन्तु जब यह कहा जाता है कि पचेन्द्रिय के माध्यम से जानना-देखना भी आत्म-रमणतारूप ब्रह्मचर्य मे साधक नही, बाधक ही है; तो सहज स्वीकार नही करता। उसे लगता है कि कही ज्ञान (इन्द्रियज्ञान) भी ब्रह्मचर्य में बाधक हो सकता है ? पर वह यह विचार नही करता कि आत्मा तो अतीन्द्रिय महा-पदार्थ है, वह इन्द्रियो के माध्यम से कैसे जाना जा सकता है ? स्पर्शन-इन्द्रिय के माध्यम से तो स्पर्शवान पुद्गल पकड़ने मे आता है, आत्मा

तो स्पर्शगुण से रहित है। इसीप्रकार रसना का विषय तो है रस और आत्मा है अरस, घ्राण का विषय तो है गंध और आत्मा है अगंध, चक्षु का विषय है रूप और आत्मा है अरूपी, कर्ण का विषय है शब्द और आत्मा है शब्दातीत, मन का विषय है विकल्प और आत्मा है विकल्पातीत – इसप्रकार सभी इन्द्रियाँ और अनिन्द्रिय (मन) तो स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, एवं विकल्प के ग्राहक हैं और आत्मा अस्पर्शी, अरस, अगंध, अरूपी एव शब्दातीत, विकल्पातीत है।

अतः इन्द्रियातीत-विकल्पातीत आत्मा को पकडने मे, जकडने में इन्द्रियाँ और मन अनुपयोगी ही नही, वरन् बाधक हैं, घातक है, क्योंकि जब तक यह आत्मा इन्द्रियो एवं मन के माध्यम से ही जानता-देखता रहेगा तब तक आत्मदर्शन नही होगा। जब आत्मदर्शन ही न होगा तब आत्मलीनता का तो प्रश्न ही उत्पन्न नही होता।

इन्द्रियों की वृत्ति बहिर्मुखी है और आत्मा अन्तरोन्मुखी वृत्ति से पकड़ने मे आता है।

कविवर द्यानतरायजी ने दशलक्षण पूजन मे भी कहा है :–

'ब्रह्मभाव अन्तर लखो'।

ब्रह्मस्वरूप आत्मा को देखना है तो अन्तर मे देखो। आत्मा अन्तर में झाकने से दिखाई देती है, क्योंकि वह है भी अन्तर मे ही।

इन्द्रियो की वृत्ति बहिर्मुखी है – क्योकि वे अपने को नही, पर को जानने-देखने मे निमित्त है। सभी इन्द्रियो के दरवाजे बाहर को ही खुलते है, अन्दर को नही। आँख से आँख दिखाई नही देती, आँख के भीतर क्या है यह भी दिखाई नही देता, पर बाहर क्या है यह दिखाई देता है। इसीप्रकार रसना भी अन्दर का स्वाद नही लेती, वरन् बाहर से आने वाले पदार्थों को चखती है। घ्राण भी क्या भीतर की दुर्गंध सूँघ पाती है ? जब वही दुर्गंध किसी रास्ते से निकल कर नाक मे बाहर से टकराती है, तब नाक उसे ग्रहण कर पाती है। कान भी बाहर की ही सुनते हैं। स्पर्शन भी मात्र बाहर की सर्दी-गर्मी आदि के प्रति सतर्क दिखाई देती है। इसप्रकार पाँचों ही इन्द्रियाँ बहिर्मुख वृत्तिवाली हैं।

बहिर्मुखी वृत्तिवाली एवं रूपरसादि की ग्राहक इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी वृत्ति का विषय एवं अरस, अरूपी आत्मा को जानने मे सहायक

कैसे हो सकती है ? यही कारण है कि इन्द्रियभोगों के समान ही इन्द्रियज्ञान भी ब्रह्मचर्य मे साधक नही, बाधक ही है।

लोग कहते है :– 'झूठा है संसार, आँख खोलकर देखो' ।

पर मैं तो यह कहना चाहता हूँ – 'सांचा है आत्मा, आँख बन्द करके देखो' ।

आत्मा आँखे खोलकर देखने की वस्तु नही, अपितु बंद करके देखने की चीज है। आँखों से ही क्या, पाँचो इन्द्रियों से उपयोग हटा कर अपने में ले जाने से आत्मा दिखाई देता है।

फिर भी जब इन्द्रिय के भोगों के त्याग की बात करते हैं तो जगत कहता है – 'ठीक है, इन्द्रियभोग त्यागने योग्य ही हैं, आपने बहुत अच्छा कहा।' पर जब यह कहते है कि इन्द्रियज्ञान भी तो आत्मानुभूतिरूप ब्रह्मचर्य मे सहायक नही; तो सामान्यजन एकदम भड़क जाते हैं; समाज में खलबली मच जाती है। कहा जाता है – 'तो क्या हम **आँख से देखें** भी नही, शास्त्र भी नही पढे ?' और न **जाने क्या-क्या** कहा जाने लगता है। बात को गहराई से समझने की कोशिश न करके आरोप-प्रत्यारोप लगाये जाने लगते है। पर भाई ! काम तो वस्तु की सही स्थिति समझने से चलेगा, चीखने-चिल्लाने से नही।

अल्पज्ञ आत्मा एक समय में एक को ही जान सकता है, एक मे ही लीन हो सकता है। अतः जब यह पर को जानेगा, पर में लीन होगा; तब अपने को जानना, अपने मे लीन होना संभव नही है। इन्द्रियो के माध्यम से पर को ही जाना जा सकता है, पर में ही लीन हुआ जा सकता है। इनके माध्यम से न तो अपने को जाना ही जा सकता है, और न अपने मे लीन ही हुआ जा सकता है। अत. इन्द्रियो के द्वारा परपदार्थों को भोगना तो ब्रह्मचर्य का घातक है ही, इनके माध्यम से बाहर का जानना-देखना भी ब्रह्मचर्य मे बाधक ही है।

इसप्रकार इन्द्रियो के विषय – चाहे वे भोग्यपदार्थ हो, चाहे ज्ञेय पदार्थ; ब्रह्मचर्य के विरोधी ही हैं, क्योकि वे आखिर है तो इन्द्रियों के विषय ही। इन्द्रियो के दोनो प्रकार के विषयो में उलझना, उलझना ही है, सुलझना नही। सुलझने का उपाय तो एक आत्म-लीनतारूप ब्रह्मचर्य ही है।

यहाँ एक प्रश्न सभव है कि जब इन्द्रियज्ञान आत्मज्ञान मे साधक नही है तो फिर शास्त्रों मे ऐसा क्यो लिखा है कि सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान एव आत्मलीनतारूप सम्यक्चारित्र अर्थात् ब्रह्मचर्य सैनी पंचेंद्रिय को ही होता है ?

इसका आशय यह नही कि आत्मज्ञान के लिये इन्द्रियों की आवश्यकता है, पर यह है कि ज्ञान का इतना विकास आवश्यक है कि जितना सैनी पचेन्द्रियो के होता है। यह तो ज्ञान के विकास का नाप है।

यद्यपि यह पूर्णत. सत्य है कि सैनी पचेन्द्रिय जीवो को ही धर्म का आरम्भ होता है, तथापि यह भी पूर्णतः सत्य है कि इन्द्रियों से नही, इन्द्रियो के जीतने से, उनके माध्यम से काम लेना बंद करने पर धर्म का आरंभ होता है।

दूसरे जब यह आत्मा आत्मामे लीन नही होगा तब किसी न किसी इन्द्रिय के विषय मे लीन होगा; पर पाँचो इन्द्रियो के विषय मे भी यह एक साथ लीन नही हो सकता, एक समय मे उनमे से किसी एक मे लीन होगा। इसीप्रकार पाँचो इन्द्रियो के विषयो को एक साथ जान भी नही सकता; क्योकि इन्द्रियज्ञान की प्रवृत्ति क्रमश ही होती है, युगपत् नही। चाहे इन्द्रियो का भोगपक्ष हो या ज्ञानपक्ष – दोनों मे क्रम पडता है। जब हम ध्यान से कोई वस्तु देख रहे हो तो कुछ सुनाई नही पडता। इसीप्रकार यदि ध्यान से सुन रहे हों तो कुछ दिखाई नही देता। पर इस चंचल उपयोग का परिवर्तन इतनी शीघ्रता से होता है कि हमे लगता है हम एक साथ देख – सुन रहे है, पर ऐसा होता नही।

अब जिसके पाँच इन्द्रियाँ है, वह यदि आत्मा मे उपयोग को नही लगाता है तो उसका उपयोग पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे बट जावेगा; पर जिसके चार ही इन्द्रियाँ है उसका उपयोग चार इन्द्रियो के विपयो मे ही बटेगा। इसप्रकार तीन-इन्द्रिय जीव का तीन इन्द्रियो मे और दो-इन्द्रिय जीव का दो इन्द्रियो मे बटेगा। पर एक-इन्द्रिय जीव का उपयोग एव भोग बटेगा ही नही, स्पर्शन-इन्द्रिय के विषय मे ही अबाधरूप से उलझा रहेगा।

इसतरह जब उपयोग आत्मा मे नही रहता है तब इन्द्रियों के विषयो मे बट जाता है। आत्मा तो एक ही है, उपयोग का उसमे रहने पर बटने का प्रश्न ही पैदा नही होता। जब वह सैनी पचेन्द्रिय हो जाता है तब बहिर्मुखी उपयोग पंचेन्द्रियो के विषयो मे बट जाने से कमजोर हो जाता है।

इस स्थिति मे ज्ञान के विकसित होने एव इन्द्रियों के उपयोग की शक्ति बटी हुई होने से आत्मज्ञान होने की शक्ति प्रकट हो जाती है।

इसप्रकार हम देखते हैं कि पचेन्द्रियो के ज्ञेय एव भोग – दोनो प्रकार के विषयो के त्यागपूर्वक आत्मलीनता ही वास्तविक अर्थात् निश्चयब्रह्मचर्य है।

अतरग अर्थात् निश्चयब्रह्मचर्य पर इतना बल देने का तात्पर्य यह नही है कि स्त्री-सेवनादि के त्यागरूप बाह्य अर्थात् व्यवहार-ब्रह्मचर्य उपेक्षणीय है। यहाँ निश्चयब्रह्मचर्य का विस्तृत विवेचन तो इसलिए किया गया है कि – व्यवहारब्रह्मचर्य से तो सारा जगत परिचित है, पर निश्चयब्रह्मचर्य की ओर जगत का ध्यान ही नही है।

जीवन में दोनो का सुमेल होना आवश्यक है। जिसप्रकार आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य की उपेक्षा करके मात्र कुशीलादि सेवन के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य को ही ब्रह्मचर्य मान लेने के कारण उल्लिखित अनेक आपत्तियाँ आती हैं, उसीप्रकार विषयसेवन के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य की उपेक्षा से भी अनेक प्रश्न उठ खडे होगे।

जैसे – उपदेशादि मे प्रवृत्त भावलिगी सन्तो को भी तात्कालिक आत्मरमणतारूप प्रवृत्ति के अभाव मे ब्रह्मचारी कहना सम्भव न होगा, फिर तो मात्र सदा ही आत्मलीन केवली ही ब्रह्मचारी कहला सकेंगे। यदि आप कहे कि उनके जो आत्मरमणतारूप ब्रह्मचर्य है, उसका उपचार करके तब भी उन्हे ब्रह्मचारी मान लेगे जबकि वे उपदेशादि क्रिया मे प्रवृत्त हैं। तो फिर किंचित् ही सही, पर आत्म-रमणता के होने से अविरत सम्यग्दृष्टि को भी ब्रह्मचारी मानना होगा, जो कि उचित प्रतीत नही होता; क्योकि फिर तो छ्यानवे हजार पत्नियो के रहते चक्रवर्ती भी ब्रह्मचारी कहा जायगा।

अत. ब्रह्मचारी संज्ञा स्वस्त्री के भी सेवनादि के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य के ही आधार पर निश्चित होती है। फिर भी आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य के अभाव मे मात्र स्त्रीसेवनादि के त्यागरूप ब्रह्मचर्य वास्तविक ब्रह्मचर्य नही है।

पचमगुणस्थानवर्ती श्रावक के अनन्तानुवधी एव अप्रत्याख्यान कषायो के अभावपूर्वक जो सातवी प्रतिमा के योग्य निश्चयब्रह्मचर्य

होता है, उसके साथ स्वस्त्री के सेवनादि के त्यागरूप बुद्धिपूर्वक जो प्रतिज्ञा होती है वही वास्तव मे व्यवहारब्रह्मचर्य है ।

इसप्रकार जीवन में निश्चय और व्यवहार ब्रह्मचर्य का सुमेल आवश्यक है।

पूजनकार ने दोनों की ही संतुलित चर्चा की है :—

शीलवाड़ नौ राख, ब्रह्मभाव अंतर लखो ।
करि दोनों अभिलाख, करहु सफल नरभव सदा ।।

हमे अपने शील की रक्षा नववाड़पूर्वक करना चाहिये तथा अन्तर मे अपने आत्मा को देखना-अनुभवना चाहिये । दोनो ही प्रकार के ब्रह्मचर्य का अभिलाषी होकर मनुष्यभव का वास्तविक लाभ लेना चाहिये ।

जिसप्रकार खेत की रक्षा वाड़ लगाकर करते है, उसीप्रकार हमे अपने शील की रक्षा नौ वाड़ो से करना चाहिये । जितना अधिक मूल्यवान माल (वस्तु) होता है, उसकी रक्षा-व्यवस्था उतनी ही अधिक मजवूत करनी पड़ती है । अधिक मूल्यवान माल की रक्षा के लिये मजवूती के साथ-साथ एक के स्थान पर अनेक बाड़े लगाई जाती हैं ।

हम रत्नों को कही जगल में नही रखते । नगर के बीच मे—मजवूत मकान के भी भीतर वीचवाले कमरे मे लोहे की तिजोरी मे तीन-तीन ताले लगाकर रखते है । शील भी एक रत्न है, उसकी भी रक्षा हमे नौ-नौ वाडो से करनी चाहिए । हम काया से कुशील का सेवन नही करें, कुशीलपोषक वचन भी न वोले, मन मे भी कुशीलसेवन के विचार न उठने दे । ऐसा न हम स्वयं करें, न दूसरों से करावें, और न इसप्रकार के कार्यों की अनुमोदना ही करे ।

इसप्रकार यद्यपि शास्त्रो में भी निश्चयब्रह्मचर्य का सहचारी जानकर स्त्रीसेवनादि के त्यागरूप व्यवहारब्रह्मचर्य की पर्याप्त चर्चा की गई है, तथापि आत्मरमणतारूप निश्चयब्रह्मचर्य के विना मुक्ति के मार्ग मे उसका विशेप महत्त्व नही है । निश्चयब्रह्मचर्य के विना वह अनाथ-सा ही है ।

यद्यपि यहाँ उत्तमब्रह्मचर्य का वर्णन मुनिधर्म की अपेक्षा किया गया है, अत. उत्कृष्टतम वर्णन है, तथापि गहस्थो को भी ब्रह्मचर्य

की आराधना से विरत नही होना चाहिए, उन्हे भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार इसे अवश्य धारण करना चाहिये।

मुनियों और गृहस्थो की कौनसी भूमिका में किस स्तर का अन्त-र्बाह्य ब्रह्मचर्य होता है – इसकी चर्चा चरणानुयोग के शास्त्रो मे विस्तार से की गई है। जिज्ञासु बन्धुओं को इस विषय मे विस्तार से वहाँ से जानना चाहिये। उन सबका वर्णन इस लघु निबन्ध मे सम्भव नही है।

ब्रह्मचर्य एक धर्म है, उसका सीधा सम्बन्ध आत्महित से है। इसे किसी लौकिक प्रयोजन की सिद्धि का माध्यम बनाना ठीक नही है। पर इसका प्रयोग एक उपाधि (Degree) जैसा किया जाने लगा है। यह भी आजकल एक उपाधि (Degree) बन कर रह गया है। जैसे – शास्त्री, न्यायतीर्थ, एम०ए०, पीएच०डी०; या वाणीभूषण, विद्यावाचस्पति; या दानवीर, सरसेठ आदि उपाधियाँ व्यवहृत होती हैं; उसीप्रकार इसका भी व्यवहार चल पडा है।

यह यश-प्रतिष्ठा का साधन बन गया है। इसका उपयोग इसी अर्थ मे किया जाने लगा है। इस कारण भी इस क्षेत्र मे विकृति आयी है।

जिसप्रकार आज की सन्मानजनक उपाधियाँ भीड-भाड़ मे ली और दी जाती है, उसीप्रकार इसका भी आदान-प्रदान होने लगा है। अब इसका भी जुलूस निकलता है। इसके लिए भी हाथी चाहिये, बैड-बाजे चाहिये। यदि स्त्री-त्याग को भी बैंड-बाजे चाहिये तो फिर शादी-ब्याह का क्या होगा ?

आज की दुनियाँ को क्या हो गया है ? इसे स्त्री रखने मे भी बैड-बाजे चाहिये, स्त्री छोडने मे भी बैड-बाजे चाहिये। समझ मे नही आता ग्रहण और त्याग में एक-सी क्रिया कैसे सम्भव है ?

एक व्यक्ति भीड-भाड के अवसर पर अपने श्रद्धेय गुरु के पास ब्रह्मचर्य लेने पहुँचा, पर उन्होंने मना कर दिया तो मेरे जैसे अन्य व्यक्ति के पास सिफारिश कराने के लिये आया। जब उससे कहा गया – "गुरुदेव अभी ब्रह्मचर्य नही देना चाहते तो मत लो, वे भी तो कुछ सोच-समझ कर मना करते होगे।"

उसके द्वारा अनुनय-विनयपूर्वक बहुत आग्रह किये जाने पर जब उससे कहा गया कि "भाई ! समझ मे नही आता कि तुम्हें इतनी परेशानी क्यो हो रही है ? भले ही गुरुदेव तुम्हे ब्रह्मचर्य व्रत न दे, पर

क्या इस छन्द में 'नारी' के स्थान पर 'जननी', 'भगिनी' या 'पुत्री' शब्द का प्रयोग सम्भव है ?

नही, कदापि नही। क्योकि फिर उसका रूप निम्नानुसार हो जावेगा, जो हमे कदापि स्वीकार नही हो सकता।

'संसार मे विप-बेल जननी, तज गये योगीश्वरा।'

या

'ससार मे विष-बेल भगिनी, तज गये योगीश्वरा।'

या

'संसार मे विष-वेल पुत्री, तज गये योगीश्वरा।'

यदि नारी शब्द से कवि का आशय माता, वहिन या पुत्री नही है तो फिर क्या है ?

स्पष्ट है कि 'नारी' शब्द का आशय नर के हृदय मे नारी के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भोग के भाव से है। इसीप्रकार उपलक्षण से नारी के हृदय मे नर के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भोग के भाव भी अपेक्षित हैं।

यहाँ विपरीत सेक्स के प्रति आकर्षण के भाव को ही विप-बेल कहा गया है, चाहे वह पुरुप के हृदय मे उत्पन्न हुआ हो, चाहे स्त्री के हृदय मे। और उसे त्यागने वाले को ही योगीश्वर कहा गया है, चाहे वह स्त्री हो, चाहे पुरुप। मात्र शब्दो पर न जाकर, शब्दो की अदला-वदली का अनर्थक प्रयास छोडकर, उनमे समाये भावो को हृदयगम करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

यदि हम शब्दो की हेरा-फेरी के चक्कर मे पडे तो कहाँ-कहाँ वदलेंगे, क्या-क्या वदलेगे ? हमे अधिकार भी क्या है दूसरो की कृति मे हेरा-फेरी करने का।

उक्त पक्तियो मे कवि का परम पावन उद्देश्य अब्रह्म से हटाकर ब्रह्म मे लीन होने की प्रेरणा देने का है। हमे भी उनके भाव को पवित्र हृदय से ग्रहण करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मरमणता साक्षात् धर्म है, सर्वोत्कृष्ट धर्म है। सभी आत्माएँ ब्रह्म के शुद्धस्वरूप को जानकर, पहिचानकर—उसी मे जम जाय, रम जाय, और अनन्तकाल तक तद्‌रूप परिणमित रहकर अनन्त सुखी हो, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

क्षमावाणी

दशलक्षण महापर्व के तत्काल बाद मनाया जानेवाला क्षमावाणी पर्व एक ऐसा महापर्व है, जिसमे हम वैर-भाव को छोड़कर एक-दूसरे से क्षमायाचना करते है, एक-दूसरे के प्रति क्षमाभाव धारण करते है। इसे क्षमापना भी कहा जाता है।

मनोमालिन्य धो डालने मे समर्थ यह महापर्व आज मात्र शिष्टाचार वनकर रह गया है। यह वात नही कि हम इसे उत्साह से न मनाते हों, इससे उदास हो गये हों। आज न हम इससे उदास हुए हैं, तथा मात्र उत्साह से ही नही, इसे अति उत्साह से मनाते है।

इस अवसर पर सारे भारतवर्ष मे लाखो रुपयों के वहुमूल्य कार्ड छपाये जाते है, उन्हे चित्रित सुन्दर लिफाफो मे रखकर हम इष्टमित्रों को भेजते हैं; लोगो से गले लगकर मिलते है, क्षमायाचना भी करते हैं, पर यह सव यत्रवत् चलता है। हमारे चेहरे पर मुस्कान भी होती है, पर वनावटी। हमारी असलियत न मालूम कहाँ गायव हो गई है? विमान-परिचारिकाओ की भाँति हम भी नकली मुस्कराने मे ट्रेन्ड हो गये हैं।

हम माफी मागते है; पर उनसे नही जिनसे मागना चाहिये, जिनके प्रति हमने अपराध किए हैं, अनजाने मे ही नही, जान-बूझकर, हमे पता भी है उनका, पर……। हम क्षमावाणी कार्ड भी भेजते है, पर उन्हे नही जिन्हें भेजना चाहिए; चुन-चुनकर उन्हे भेजते है, जिनके प्रति न तो हमने कोई अपराध किए है और न जिन्होने हमारे प्रति ही कोई अपराध किया है। आज क्षमा भी उन्ही से मांगी जाती है जिनसे हमारे मित्रता के संवंध हैं, जिनके प्रति अपराध-वोध भी हमे कभी नही हुआ है। वताये जरा, वास्तविक शत्रुओ से कौन क्षमा माँगता है? उन्हे कौन-कौन क्षमावाणी कार्ड डालते हैं। क्षमा करने-कराने के वास्तविक अधिकारी तो वे ही हैं। पर उन्हे कौन पूछता है?

वड़े कहलाने वाले वहुधंधी लोगो की स्थिति तो और भी विचित्र हो गई है। उनके यहाँ एक लिस्ट तैयार रहती है – जिसके अनुसार

वे तुम्हे ब्रह्मचर्य से रहने से तो रोक नही सकते, तुम ब्रह्मचर्य से रहो न, तुम्हे क्या परेशानी है ? तुम्हे ब्रह्मचर्य से रहने से तो कोई रोक नही सकता ।"

इसके बाद भी उसे सन्तोष नही हुआ तो उससे कहा गया कि "अभी रहने दो, अभी छह मास अभ्यास करो। बाद मे तुम्हे ब्रह्मचर्य दिला देंगे, जल्दी क्या है ?"

तब वह एकदम बोला – "ऐसा अवसर फिर कब मिलेगा ?"

"कैसा अवसर" – यह पूछने पर कहने लगा – "यह पचकल्याणक मेला बार-बार थोड़े ही होगा ।"

अब आप ही बताइये कि उसे ब्रह्मचर्य चाहिये, कि पचास हजार जनता के बीच ब्रह्मचर्य चाहिये। उसे ब्रह्मचर्य से नही, ब्रह्मचर्य की घोषणा से मतलब था। उसे ब्रह्मचर्य नही, ब्रह्मचर्य की डिग्री चाहिये थी; वह भी सबके बीच घोषणापूर्वक, जिससे उसे समाज मे सर्वत्र सम्मान मिलने लगे, उसकी भी पूछ होने लगे, पूजा होने लगे ।

जैनधर्मानुसार तो सातवी ब्रह्मचर्यप्रतिमा तक घर मे रहने का अधिकार ही नही, कर्त्तव्य है। अर्थात् बनाकर खाने की ही बात नही, कमाकर खाने की भी बात है; क्योकि वह अभी परिग्रहत्यागी नही हुआ है, आरंभत्यागी भी नही हुआ है। उसे तो चादर ओढने की भी जरूरत नही है; वह तो धोती, कुर्त्ता, पगडी आदि पहनने का अधिकारी है; शास्त्रो मे कही भी इसका निषेध नही है ।

पर ब्रह्मचर्यप्रतिमा तो दूर, पहली भी प्रतिमा नही; कोरा ब्रह्मचर्य लिया, चादर ओढी और चल दिये। कमाकर खाना तो दूर, बनाकर खाने से भी छुट्टी। मुझे इस बात की कोई तकलीफ नही कि उन्हें समाज क्यो खिलाता है ? समाज की यह गुणग्राहकता प्रशंसनीय ही नही, अभिनन्दनीय है। मेरा आशय तो यह है कि जब उनकी व्यवस्था कहीं की समाज नही कर पाती है, तब देखिये उनका व्यवहार, सर्वत्र उस समाज की बुराई करना मानो उनका प्रमुख धर्म हो जाता है। समाज प्रेम से उनका भार उठाये, आदर करे – बहुत बढ़िया बात है, पर बलात् समाज पर भार डालना शास्त्र-सम्मत नहीं है।

ब्रह्मचर्यधर्म तो एकदम अंतर की चीज है, व्यक्तिगत चीज है; पर यह भी आज उपाधि (Degree) बन गयी है। ब्रह्मचर्य तो आत्मा मे लीनता का नाम है, पर जब अपने को ब्रह्मचारी कहने वाले आत्मा के नाम से ही बिदकते हो तो क्या कहा जाय ?

आत्मा के अनुभव बिना तो सम्यग्दर्शन भी नही होता, व्रत तो सम्यग्दर्शन के वाद होते हैं। स्वस्त्री का सग तो छठवी प्रतिमा तक रहता है, सातवीं प्रतिमा मे स्वस्त्री का साथ छूटता है। अर्थात् स्त्री-सेवन के त्याग के पहले आत्मा का अनुभवरूप ब्रह्मचर्य होता है, पर उसकी ओर किसी का ध्यान ही नही है।

यहाँ सम्यग्दर्शन के विना भी बाह्य ब्रह्मचर्य का निपेध नही है, वह निवृत्ति के लिये उपयोगी भी है। गृहस्थ सबधी झझटो के न होने से शास्त्रो के अध्ययन-मनन-चिन्तन के लिये पूरा-पूरा अवसर मिलता है। पर वाह्य ब्रह्मचर्य लेकर स्वाध्यायादि मे न लगकर मानादि पोषण मे लगे तो उसने बाह्य ब्रह्मचर्य भी नही लिया, मान लिया है, सम्मान लिया है।

ब्रह्मचर्य की चर्चा करते समय दशलक्षण पूजन मे एक पंक्ति आती है :–

'ससार में विष-वेल नारी, तज गये योगीश्वरा।'

आजकल जव भी ब्रह्मचर्य की चर्चा चलती है तो दशलक्षण पूजन की उक्त पक्ति पर वहुत नाक-भौ सिकोडी जाती है। कहा जाता है कि इसमे नारियो की निन्दा की गई है। यदि नारी विष की बेल है तो क्या नर अमृत का वृक्ष है ? नर भी तो विष-वृक्ष है

यहाँ तक कहा जाता है कि पूजाएँ पुरुषो ने लिखी हैं, अत. उसमे नारियो के लिए निन्दनीय शब्दो का प्रयोग किया गया है।

तो क्या नारियाँ भी एक पूजन लिखे और उसमे लिखदें कि –

'ससार मे विष-वृक्ष नर, सब तज गईं योगीश्वरी।'

भाई, ब्रह्मचर्य जैसे पावन विषय को नर-नारी के विवाद का विषय क्यो वनाते हो ? ब्रह्मचर्य की चर्चा मे पूजनकार का आशय नारी-निन्दा नही है। पुरुषो को श्रेष्ठ बताना भी पूजनकार को इष्ट नही है। इसमे पुरुषो के गीत नही गाये हैं, वरन् उन्हे कुशील के विरुद्ध डाँटा है, फटकारा है।

नारी शब्द मे तो सभी नारियाँ आ जाती हैं; जिनमे माता, वहिन, पुत्री आदि भी शामिल हैं। तो क्या नारी को विष-वेल कहकर माता, बहिन और पुत्री को विष-वेल कहा गया है ?

नही, कदापि नही।

क्या इस छन्द में 'नारी' के स्थान पर 'जननी', 'भगिनी' या 'पुत्री' शब्द का प्रयोग सम्भव है ?

नही, कदापि नही। क्योकि फिर उसका रूप निम्नानुसार हो जावेगा, जो हमें कदापि स्वीकार नही हो सकता।

'ससार में विष-बेल जननी, तज गये योगीश्वरा।'

या

'संसार मे विष-बेल भगिनी, तज गये योगीश्वरा।'

या

'ससार मे विष-बेल पुत्री, तज गये योगीश्वरा।'

यदि नारी शब्द से कवि का आशय माता, वहिन या पुत्री नही है तो फिर क्या है ?

स्पष्ट है कि 'नारी' शब्द का आशय नर के हृदय मे नारी के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भोग के भाव से है। इसीप्रकार उपलक्षण से नारी के हृदय मे नर के लक्ष्य से उत्पन्न होने वाले भोग के भाव भी अपेक्षित है।

यहाँ विपरीत सेक्स के प्रति आकर्षण के भाव को ही विष-बेल कहा गया है, चाहे वह पुरुष के हृदय मे उत्पन्न हुआ हो, चाहे स्त्री के हृदय मे। और उसे त्यागने वाले को ही योगीश्वर कहा गया है, चाहे वह स्त्री हो, चाहे पुरुष। मात्र शब्दो पर न जाकर, शब्दो की अदला-बदली का अनर्थक प्रयास छोडकर, उनमे समाये भावो को हृदयगम करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

यदि हम शब्दो की हेरा-फेरी के चक्कर मे पडे तो कहाँ-कहाँ बदलेंगे, क्या-क्या बदलेगे ? हमे अधिकार भी क्या है दूसरो की कृति मे हेरा-फेरी करने का।

उक्त पक्तियो मे कवि का परम पावन उद्देश्य अब्रह्म से हटाकर ब्रह्म मे लीन होने की प्रेरणा देने का है। हमे भी उनके भाव को पवित्र हृदय से ग्रहण करना चाहिए।

ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मरमणता साक्षात् धर्म है, सर्वोत्कृष्ट धर्म है। सभी आत्माएँ ब्रह्म के शुद्धस्वरूप को जानकर, पहिचानकर – उसी मे जम जाय, रम जाय, और अनन्तकाल तक तद्रूप परिणमित रहकर अनन्त सुखी हो, इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।

क्षमावाणी

दशलक्षण महापर्व के तत्काल वाद मनाया जानेवाला क्षमावाणी पर्व एक ऐसा महापर्व है, जिसमे हम वैर-भाव को छोडकर एक-दूसरे से क्षमायाचना करते है, एक-दूसरे के प्रति क्षमाभाव धारण करते है। इसे क्षमापना भी कहा जाता है।

मनोमालिन्य धो डालने मे समर्थ यह महापर्व आज मात्र शिष्टाचार वनकर रह गया है। यह बात नही कि हम इसे उत्साह से न मनाते हो, इससे उदास हो गये हो। आज न हम इससे उदास हुए हैं, तथा मात्र उत्साह से ही नही, इसे अति उत्साह से मनाते है।

इस अवसर पर सारे भारतवर्ष मे लाखो रुपयो के वहुमूल्य कार्ड छपाये जाते हैं, उन्हे चित्रित सुन्दर लिफाफो मे रखकर हम इष्टमित्रो को भेजते है, लोगो से गले लगकर मिलते हैं, क्षमायाचना भी करते हैं, पर यह सब यंत्रवत् चलता है। हमारे चेहरे पर मुस्कान भी होती है, पर वनावटी। हमारी असलियत न मालूम कहाँ गायव हो गई है? विमान-परिचारिकाओ की भाँति हम भी नकली मुस्कराने मे ट्रेन्ड हो गये हैं।

हम माफी मागते है, पर उनसे नही जिनसे मागना चाहिये, जिनके प्रति हमने अपराध किए हैं, अनजाने मे ही नही, जान-वूझकर, हमे पता भी है उनका, पर ......। हम क्षमावाणी कार्ड भी भेजते हैं, पर उन्हे नही जिन्हें भेजना चाहिए; चुन-चुनकर उन्हे भेजते है, जिनके प्रति न तो हमने कोई अपराध किए है और न जिन्होने हमारे प्रति ही कोई अपराध किया है। आज क्षमा भी उन्ही से मागी जाती है जिनसे हमारे मित्रता के संवध हैं, जिनके प्रति अपराध-वोध भी हमे कभी नही हुआ है। वतायें जरा, वास्तविक शत्रुओ से कौन क्षमा माँगता है? उन्हे कौन-कौन क्षमावाणी कार्ड डालते हैं। क्षमा करने-कराने के वास्तविक अधिकारी तो वे ही हैं। पर उन्हे कौन पूछता है?

वड़े कहलाने वाले वहुधधी लोगो की स्थिति तो और भी विचित्र हो गई है। उनके यहाँ एक लिस्ट तैयार रहती है–जिसके अनुसार

शादी के निमंत्रण कार्ड भेजे जाया करते हैं, उसी लिस्ट के अनुसार कर्मचारीगण क्षमावाणी कार्ड भी भेज दिया करते हैं। भेजने वाले को पता ही नही रहता कि हमने किस-किस से क्षमायाचना की है।

यही हाल उनका भी रहता है – जिनके पास वे कार्ड पहुँचते हैं। उनके कर्मचारी प्राप्त कर लेते है। यदि कभी फुर्सत हुई तो वे भी एक निगाह डाल लेते है कि किन-किन के क्षमावाणी कार्ड आये है। उनमे क्या लिखा है, यह पढने का प्रयत्न वे भी नही करते। करे भी क्या ? क्या कार्ड डालने वाले को भी पता है कि उसमे क्या लिखा है ? क्या उसने भी वह कार्ड पढ़ा है ? लिखने की बात तो बहुत दूर।

बाजार से बना-बनाया ड्राफ्ट और छपा-छपाया कार्ड लाया गया है, पते अवश्य लिखने पड़े हैं। यदि वे भी किसी प्रकार छपे-छपाये मिल जाते होते तो उन्हे भी लिखने का कष्ट कौन करता ? कदाचित् यदि उसमे प्रेस की गलती से गालियाँ छप जावे तो भी कोई चिन्ता की बात नही है। चिन्ता तो तब हो जब कोई उसे पढ़े। जब उसे कोई पढने वाला ही नही – सब उसका कागज, प्रिंटिग, गेटअप ही देखेंगे, फिर चिन्ता किस बात की ?

करे भी क्या ? आज का आदमी इतना व्यस्त हो गया है कि उसे कहाँ फुर्सत है – यह सब करने की ? स्वयं पत्र लिखे भी तो कितनो को ? व्यवहार भी तो इतना बढ गया है कि जिसका कोई हिसाब नही। बस सब-कुछ यो ही चल रहा है।

क्षमायाचना जो कि एकदम व्यक्तिगत चीज थी, आज बाजारू बन गई है। क्षमायाचना या क्षमाकरना एक इतना महान कार्य है, इतना पवित्र धर्म है कि जो जीव का जीवन बदल सकता है; बदल क्या सकता है, सहीरूप मे क्षमा करने और क्षमा माँगनेवाले का जीवन बदल जाता है। पर न मालूम आज का यह दोपाया कैसा चिकना घड़ा हो गया है कि इस पर पानी ठहरता ही नही। इसकी 'कारी कामरी' पर कोई दूसरा रंग चढता ही नही।

बड़े-बड़े महापर्व आते हैं, बड़े-बड़े महान संत आते हैं, और यो ही चले जाते है, उनका इस पर कोई असर नही पडता। यह बराबर अपनी जगह जमा रहता है। इसने बीसो क्षमावाणी मना डाली, फिर भी अभी बीस-बीस वर्ष पुरानी शत्रुता वैसी की वैसी कायम है, उसमे जरा भी तो हीनता नही आई है।

धन्य है इसकी वीरता को। कहता है 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'। अनेको क्षमावाणियाँ बीत गईं, पर इसकी वीरता नही बीती। अभी भी ताल ठोककर तैयार है – लड़ने के लिए, मरने के लिए। और तो और – क्षमा माँगने के मुद्दे पर भी लड सकता है, क्षमा माँगते-माँगते लड़ सकता है, क्षमा नही माँगने पर भी लड सकता है, बलात् क्षमा माँगने को बाध्य भी कर सकता है।

इसमे न मालूम कैसा विचित्र सामर्थ्य पैदा हो गया है कि माफी मागकर भी अकड़ा रह सकता है, माफ करके भी माफ नही कर सकता है। कभी-कभी तो माफी भी अकड़कर माँगता है और माफी माँग लेने का रोब भी दिखाता है।

मेरे एक सहपाठी की विचित्र आदत थी। वह बड़ी अकड़ के साथ, बड़े गौरव से माफी मांगा करता था और तत्काल फिर उसी मुद्दे पर अकड़ने लगता था। वह कहता – गलती की तो क्या हो गया? माफी भी तो मांग ली है, अब अकड़ता क्यों है?

इस तरह बात करता कि जैसे उसने माफी माँगकर बहुत बड़ा अहसान किया है। उस अहसान का आपको अहसानमन्द होना चाहिए।

जिनसे झगड़ा हुआ हो, एक तो हम लोग उन लोगों से क्षमा-याचना करते ही नही। कदाचित् हमारे इष्टमित्र सद्भाव बनाने के लिए उनसे क्षमा मागने की प्रेरणा देते हैं, बाध्य करते हैं, तो हम अनेक शर्तें रख देते हैं। कहते हैं – "उससे भी तो पूछो कि वह भी क्षमा माँगने या क्षमा करने को तैयार है या नही?"

यदि वह भी तैयार हो जाता है तो फिर इस बात पर बात अटक जाती है कि पहिले क्षमा कौन मांगे? इसका भी कोई रास्ता निकाल लिया जावे तो फिर क्षमा माँगने और करने की विधि पर झगडा होने लगता है – क्षमा लिखित मागी जावे या मौखिक।

यदि यह मसला भी किसी प्रकार हल कर लिया जावे तो फिर क्षमा मांगने की भाषा तय करना कोई आसान काम नही है। माँगने वाला इस भाषा में क्षमा मागेगा कि "मैंने कोई गलती तो की नहीं है, फिर भी आप लोग नही मानते है तो मैं क्षमा माँगने को तैयार हूँ लेकिन ·········।" – कहकर कोई नई शर्त जोड़ देता है।

इस पर क्षमादान करने वाला अकड़ जाएगा, कहेगा – "पहिले अपराध स्वीकार करो, बाद में माफ करूँगा।"

सब जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करे। सब जीवों से मेरा मैत्रीभाव रहे, किसी से भी बैरभाव न हो।"

तब हम 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ,' कहकर क्रोध के त्याग का संकल्प करते हैं या क्रोध के त्याग की भावना भाते है तथा 'सब जीव मुझे क्षमा करें' कहकर मान के त्याग का संकल्प करते हैं या मान के त्याग की भावना भाते है। इसीप्रकार सब जीवो से मित्रता रखने की भावना मायाचार के त्यागरूप सरलता प्राप्त करने की भावना है।

इसलिए क्षमावाणी को मात्र क्रोध के त्याग तक सीमित करना उचित नही।

एक बात यह भी तो है कि इस दिन हम क्षमा करने के स्थान पर क्षमा मांगते अधिक हैं। भले ही उक्त छन्द मे 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ' वाक्य पहले हो, पर सामान्य व्यवहार मे हम यही कहते हैं – 'क्षमा करना'। यह कोई कहता दिखाई नही देता कि 'क्षमा किया'। इसे 'क्षमायाचना' दिवस के रूप मे ही देखा जाता है, 'क्षमाकरना' दिवस के रूप मे नहीं।

क्षमायाचना मानकषाय के अभाव में होने वाली प्रवृत्ति है। अत: क्यों न इसे मार्दववाणी कहा जाये? पर सभी इसे क्षमावाणी ही कहते है। एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि दशलक्षण महापर्व के वाद मनाया जाने वाला यह उत्सव प्रतिवर्ष क्षमादिवस के रूप मे ही क्यों मनाया जाता है? एक वर्ष क्षमादिवस, दूसरे वर्ष मार्दवदिवस, तीसरे वर्ष आर्जवदिवस आदि के रूप मे क्यो नही? क्योंकि धर्म तो दशों ही एक समान हैं। क्षमा को ही इतना अधिक महत्त्व क्यो दिया जाता है?

भाई! यह प्रश्न तो तब उठाया जा सकता है जबकि क्षमावाणी का अर्थ मात्र क्षमावाणी हो। क्षमावाणी का वास्तविक अर्थ तो क्षमादिवाणी है। क्षमा आदि दशो धर्मों की आराधना से आत्मा मे उत्पन्न निर्वैरता, कोमलता, सरलता, निर्लोभता, सत्यता, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मलीनता से उत्पन्न समग्र पवित्रभाव का वाणी मे प्रकटीकरण ही वास्तविक क्षमावाणी है। जब तक भूमिकानुसार दशो धर्म हमारी परिणति मे नही प्रकटेंगे तबतक क्षमावाणी का वास्तविक लाभ हमें प्राप्त नही होगा।

अब रह जाती है मात्र यह बात कि फिर इसका नाम अकेली क्षमा पर ही क्यो रखा गया है ? सो इसका समाधान यह है कि क्या इतना बड़ा नाम रखने का प्रयोग सफल होता ? क्या इतना बड़ा नाम सहज ही सब की जबान पर चढ़ सकता था ? नही, बिल्कुल नही।

अतः जिसप्रकार अनेक भाइयो या भागीदारो का बराबर भाग रहने पर भी फर्म या कम्पनी का नाम प्रथम भाई के नाम पर रख दिया जाता है, एक भाई का नाम रहने पर भी सबके स्वामित्व में कोई अंतर नही पड़ता; उसीप्रकार क्षमा का नाम रहने पर क्षमावाणी मे दशो धर्म समा जाते हैं।

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि जिसके नाम की दुकान होगी, सामान्य लोग तो यही समझेंगे कि दुकान उसी की है।

यह बात ठीक है, स्थूलबुद्धि वालों को ऐसा भ्रम प्रायः हो जाता है; पर समझदार लोग सब सही ही समझते है। इसीकारण तो क्षमावाणी को स्थूलबुद्धि वाले मात्र क्षमावाणी ही समझ लेते है, क्षमादिवाणी नही समझ पाते। पर जब समझदार लोग समझाते है तो सामान्य लोगो की भी समझ मे आजाता है। इसीलिए तो इतना स्पष्टीकरण किया जा रहा है। यदि इस भ्रम की सभावना नही होती तो फिर इतने स्पष्टीकरण की आवश्यकता क्यो रहती ?

दुनियाँदारी मे तो आज का आदमी बहुत चतुर हो गया है। क्या देश मे जितने भी मिल, दुकाने गाधीजी के नाम पर है, उन सबके मालिक गाधीजी हैं ? नहीं, बिल्कुल नही, और यह बात सब अच्छी तरह समझते भी हैं। पर न मालूम आध्यात्मिक मामलों मे इसप्रकार के भ्रमो मे क्यो उलझ जाते है ? वस्तुतः बात तो यह है कि आध्यात्मिक मामलों मे कोई भी व्यक्ति दिमाग पर वजन ही नही डालना चाहता। गहराई से सोचता ही नही है तो समझ मे कैसे आवे ? यदि सामान्य व्यक्ति भी थोड़ा-सा भी गहराई से विचार करे तो सब समझ मे आ सकता है।

दशलक्षण महापर्व के समान क्षमावाणी उत्सव भी वर्ष मे तीन बार मनाया जाना चाहिए, पर जब दशलक्षणपर्व भी तीन बार नही मनाया जाता है तो फिर इसे कौन मनावे ? अस्तु जो भी हो, पर वर्ष मे एक बार तो हम इसे बड़े उत्साह से मनाते ही है। इस कारण भी इसका महत्त्व और अधिक बढ जाता है, क्योकि मनोमालिन्य और वैरभाव धोने-मिटाने का अवसर एक बार ही प्राप्त होता है।

इसप्रकार लोग कभी न किये गये अपराध के लिए क्षमा माँगेंगे और क्षमा करने वाला अस्वीकृत अपराध को क्षमा करने के लिए तैयार न होगा। यदि कदाचित् भाषा के महापण्डित मिल-जुलकर कोई ऐसा ड्राफ्ट बना लावें कि जिससे 'सांप भी मर जावे और लाठी भी न टूटे' तो फिर इस बात पर झगड़ा हो सकता है कि क्षमा आदान-प्रदान का स्थान कौनसा हो ?

इन सब बातों को निपटाकर यदि क्षमायाचना या क्षमाप्रदान कार्यक्रम समारोह सानन्द सम्पन्न भी हो जावे, तो भी क्या भरोसा कि यह क्षमाभाव कब तक कायम रहेगा ? कायम रहने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? जब हृदय मे क्षमाभाव आया ही नही, सब-कुछ कागज में या वाणी में ही रह गया है।

इसप्रकार की क्षमावाणी क्या निहाल करेगी ? यह भी एक विचार करने की बात है।

'क्षमा करना, क्षमा करना' रटते लोग तो पग-पग पर मिल जावेंगे; किन्तु हृदय से वास्तविक क्षमायाचना करने वाले एव क्षमा करने वालों के दर्शन आज दुर्लभ हो गये है। क्षमावाणी का सही रूप तो यह होना चाहिए कि हम अपनी गलतियो का उल्लेख करते हुए विनयपूर्वक आमने-सामने या पत्र द्वारा शुद्ध हृदय से क्षमायाचना करें एवं पवित्रभाव से दूसरों को क्षमा करें अर्थात् क्षमाभाव धारण करे।

आप सोच सकते हैं कि इस पावन अवसर पर मैं भी क्या बात ले बैठा ? पर मैं जानना चाहता हूँ कि क्या कभी आपने क्षमावाणी के बाद – जबकि आपने अनेकों को क्षमा किया है, अनेकों से क्षमा मागी है, आत्मनिरीक्षण किया है ? यदि नही, तो अब करके देखिये कि क्या आपके जीवन में भी कोई अन्तर आया है या जैसा का तैसा ही चल रहा है ? यदि जैसा का तैसा ही चल रहा है तो फिर मेरी बात की सत्यता पर एक बार गभीरता से विचार कीजिए, उसे ऐसे ही बातो में न उड़ा दीजिए। क्या मैं आशा करूँ कि आप इस ओर ध्यान देंगे ? देंगे तो कुछ लाभ उठायेंगे, अन्यथा जैसा चल रहा है वैसा तो चलता ही रहेगा, उसमे तो कुछ आना-जाना है नही।

क्षमावाणी का वास्तविक भाव तो यह था कि पर्वराज पर्यूषण में दशधर्मों की आराधना से हमारा हृदय क्षमाभाव से आकण्ठ-आपूरित हो उठना चाहिए। और जिसप्रकार घड़ा जब आकण्ठ-आपूरित हो

जाता है तो फिर उबलने लगता है, छलकने लगता है; उसीप्रकार जब हमारा हृदयघट क्षमाभावादिजल से आकण्ठ-आपूरित हो उठे, तब वही क्षमाभाव वाणी मे भी छलकने लगे, झलकने लगे; तभी वह वस्तुत वाणी की क्षमा अर्थात् क्षमावाणी होगी। किन्तु आज तो क्षमा मात्र हमारी वाणी मे रह गई, अन्तर से उसका सम्बन्ध ही नहीं रहा है।

हम क्षमा-क्षमा वाणी से तो बोलते हैं, पर क्षमाभाव हमारे गले के नीचे नही उतरता। यही कारण है कि हमारी क्षमायाचना कृत्रिम हो गई है, उसमें वह वास्तविकता नही रह गई है—जो होनी चाहिए थी या वास्तविक क्षमाधारी के होती है।

ऊपर-ऊपर से हम बहुत मिठबोले हो गये हैं। हृदय में द्वेषभाव कायम रखकर हम छल से ऊपर-ऊपर से क्षमायाचना करने लगे हैं।

मायाचारी के क्रोध, मान वैसे प्रकट नही होते जैसे कि सरल स्वभावी के हो जाते हैं। प्रकट होने पर उनका बहिष्कार, परिष्कार संभव है; पर अप्रकट की कौन जाने? अत. क्षमाधारक को शान्त और निरभिमानी होने के साथ सरल भी होना चाहिए।

कुटिल व्यक्ति क्रोध-मान को छिपा तो सकता है, पर क्रोध-मान का अभाव करना उसके वश की बात नही है। क्रोध-मान को दबाना और बात है तथा हटाना और। क्रोध-मानादि को हटाना क्षमा है, दबाना नही।

यहाँ आप कह सकते हैं कि क्षमा तो क्रोध के अभाव का नाम है;—क्षमाधारक को निरभिमानी भी होना चाहिए, सरल भी होना चाहिए आदि शर्तें क्यों लगाते जाते हैं?

यद्यपि क्षमा क्रोध के अभाव का नाम है; तथापि क्षमावाणी का सबध मात्र क्रोध के अभावरूप क्षमा से ही नही, अपितु क्रोधमानादि विकारो के अभावरूप क्षमामार्दवादि दशो धर्मों की आराधना एवं उससे उत्पन्न निर्मलता से है।

क्षमा मांगने मे बाधक क्रोधकषाय नही, अपितु मानकषाय है। क्रोधकषाय क्षमा करने में बाधक हो सकती है, क्षमा मांगने मे नही।

जब हम कहते हैं :—

"खामेमि सव्व जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।
मित्ती मे सव्वभूएसु, वैरं मज्झं ण केण वि॥

सब जीवों को मैं क्षमा करता हूँ, सब जीव मुझे क्षमा करें। सब जीवों से मेरा मैत्रीभाव रहे, किसी से भी वैरभाव न हो।"

तब हम 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ,' कहकर क्रोध के त्याग का संकल्प करते हैं या क्रोध के त्याग की भावना भाते है तथा 'सब जीव मुझे क्षमा करें' कहकर मान के त्याग का सकल्प करते है या मान के त्याग की भावना भाते है। इसीप्रकार सब जीवों से मित्रता रखने की भावना मायाचार के त्यागरूप सरलता प्राप्त करने की भावना है।

इसलिए क्षमावाणी को मात्र क्रोध के त्याग तक सीमित करना उचित नही।

एक बात यह भी तो है कि इस दिन हम क्षमा करने के स्थान पर क्षमा मांगते अधिक हैं। भले ही उक्त छन्द में 'मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ' वाक्य पहले हो, पर सामान्य व्यवहार मे हम यही कहते हैं—'क्षमा करना'। यह कोई कहता दिखाई नही देता कि 'क्षमा किया'। इसे 'क्षमायाचना' दिवस के रूप मे ही देखा जाता है, 'क्षमाकरना' दिवस के रूप मे नही।

क्षमायाचन। मानकपाय के अभाव में होने वाली प्रवृत्ति है। अतः क्यों न इसे मार्दववाणी कहा जाये? पर सभी इसे क्षमावाणी ही कहते हैं। एक प्रश्न यह भी हो सकता है कि दशलक्षण महापर्व के बाद मनाया जाने वाला यह उत्सव प्रतिवर्ष क्षमादिवस के रूप मे ही क्यों मनाया जाता है? एक वर्ष क्षमादिवस, दूसरे वर्ष मार्दवदिवस, तीसरे वर्ष आर्जवदिवस आदि के रूप में क्यो नही? क्योंकि धर्म तो दशों ही एक समान है। क्षमा को ही इतना अधिक महत्त्व क्यो दिया जाता है?

भाई! यह प्रश्न तो तब उठाया जा सकता है जबकि क्षमावाणी का अर्थ मात्र क्षमावाणी हो। क्षमावाणी का वास्तविक अर्थ तो क्षमादिवाणी है। क्षमा आदि दशों धर्मों की आराधना से आत्मा में उत्पन्न निर्वैरता, कोमलता, सरलता, निर्लोभता, सत्यता, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मलीनता से उत्पन्न समग्र पवित्रभाव का वाणी मे प्रकटीकरण ही वास्तविक क्षमावाणी है। जब तक भूमिकानुसार दशो धर्म हमारी परिणति मे नही प्रकटेंगे तबतक क्षमावाणी का वास्तविक लाभ हमें प्राप्त नही होगा।

अब रह जाती है मात्र यह बात कि फिर इसका नाम अकेली क्षमा पर ही क्यो रखा गया है ? सो इसका समाधान यह है कि क्या इतना बड़ा नाम रखने का प्रयोग सफल होता ? क्या इतना बड़ा नाम सहज ही सब की जबान पर चढ सकता था ? नही, बिल्कुल नही।

अतः जिसप्रकार अनेक भाइयो या भागीदारो का बराबर भाग रहने पर भी फर्म या कम्पनी का नाम प्रथम भाई के नाम पर रख दिया जाता है, एक भाई का नाम रहने पर भी सबके स्वामित्व में कोई अतर नही पडता, उसीप्रकार क्षमा का नाम रहने पर क्षमावाणी मे दशो धर्म समा जाते है।

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि जिसके नाम की दुकान होगी, सामान्य लोग तो यही समझेगे कि दुकान उसी की है।

यह बात ठीक है, स्थूलबुद्धि वालों को ऐसा भ्रम प्रायः हो जाता है; पर समझदार लोग सब सही ही समझते है। इसीकारण तो क्षमावाणी को स्थूलबुद्धि वाले मात्र क्षमावाणी ही समझ लेते है, क्षमादिवाणी नही समझ पाते। पर जब समझदार लोग समझाते है तो सामान्य लोगो की भी समझ मे आजाता है। इसीलिए तो इतना स्पष्टीकरण किया जा रहा है। यदि इस भ्रम की सभावना नही होती तो फिर इतने स्पष्टीकरण की आवश्यकता क्यों रहती ?

दुनियाँदारी मे तो आज का आदमी बहुत चतुर हो गया है। क्या देश मे जितने भी मिल, दुकानें गांधीजी के नाम पर है, उन सबके मालिक गाधीजी हैं ? नही, बिल्कुल नही, और यह बात सब अच्छी तरह समझते भी हैं। पर न मालूम आध्यात्मिक मामलो मे इसप्रकार के भ्रमों मे क्यों उलझ जाते हैं ? वस्तुतः बात तो यह है कि आध्यात्मिक मामलों में कोई भी व्यक्ति दिमाग पर वजन ही नही डालना चाहता। गहराई से सोचता ही नही है तो समझ मे कैसे आवे ? यदि सामान्य व्यक्ति भी थोडा-सा भी गहराई से विचार करे तो सब समझ मे आ सकता है।

दशलक्षण महापर्व के समान क्षमावाणी उत्सव भी वर्ष मे तीन बार मनाया जाना चाहिए, पर जब दशलक्षणपर्व भी तीन बार नही मनाया जाता है तो फिर इसे कौन मनावे ? अस्तु जो भी हो, पर वर्ष मे एक बार तो हम इसे बड़े उत्साह से मनाते ही है। इस कारण भी इसका महत्त्व और अधिक बढ जाता है, क्योकि मनोमालिन्य और वैरभाव धोने-मिटाने का अवसर एक बार ही प्राप्त होता है।

वर्ष में तीन वार क्षमावाणी आने का भी कारण है। और वह यह कि अप्रत्याख्यान कपाय छः माह से अधिक नही रहती। यदि अधिक रहे तो समझना चाहिए कि वह अनन्तानुवधी है। अनन्तानुवधी कपाय अनंत संसार का कारण है। अत' यदि क्षमावाणी छः माह के भीतर ही हो जावे और उसके निमित्त से हम छः माह के भीतर ही क्रोधमानादि कपायभावो को धो डाले तो वहुत अच्छा रहे।

वैरभाव तो एक दिन भी रखने की वस्तु नही है। प्रथम तो वैरभाव धारण ही नही करना चाहिए। यदि कदाचित् हो भी जावे तो उसे तत्काल मिटा देना चाहिए। इसके वाद भी यदि रह जाय तो फिर क्षमावाणी के दिन तो मन साफ हो ही जाना चाहिए।

इसमे एक वात और भी विचारणीय है। वह यह कि इसे हमने मनुष्यों तक ही सीमित कर रखा है, जवकि आचार्यों ने इसे जीवमात्र तक विस्तार दिया है।

वे यह नही लिखते :—

'खामेमि सव्व जैनी, सव्वे जैनी खमन्तु मे।'

या

'खामेमि सव्व मनुजा, सव्वे मनुजा खमन्तु मे।'

वल्कि यह लिखते हैं :—

'खामेमि सव्व जीवा, सव्वे जीवा खमन्तु मे।'

वे सव जैनियो या सर्व मनुष्यो मात्र से क्षमा मागने या क्षमा करने की वात न करके सव जीवों को क्षमा करने और सव जीवो से क्षमा मागने की वात करते हैं। इसीप्रकार वे मात्र जैनियों या मनुष्यो से मित्रता नही चाहते, किन्तु प्राणीमात्र से मित्रता की कामना करते हैं। उनका दृष्टिकोण सकुचित नही, विशाल है।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि जव कोई जीव हमसे क्षमा मांगे ही नही, तो हम उसे कैसे क्षमा करे ? तथा हम उससे क्या क्षमा मागे, जो हमारी वात समझ ही नही सकता। जो हमारी वात समझ ही नही सकता, वह हमे क्या क्षमा करेगा, कैसे क्षमा करेगा ? — इस प्रकार एकेन्द्रियादि जीवो से क्षमा मागना और उन्हे क्षमा करना कैसे स भव है ?

क्षमायाचना या क्षमाकरना दो प्राणियों की सम्मिलित (Combined) क्रिया नही है, यह एकदम व्यक्तिगत चीज है, स्वाधीन

(Independent) क्रिया है। क्षमावाणी एक धार्मिक परिणति है, आध्यात्मिक क्रिया है । उसमे पर के सहयोग एव स्वीकृति की आवश्यकता नही होती । यदि हम क्षमाभाव धारण करना चाहते है, तो उसके लिए यह आवश्यक नही कि जब कोई हमसे क्षमायाचना करे, तब ही हम क्षमा कर सकें अर्थात् क्षमा धारण कर सके । अपराधी द्वारा क्षमायाचना नही किये जाने पर भी उसे क्षमा किया जा सकता है । यदि ऐसा नही होता तो फिर क्षमा धारण करना भी पराधीन हो जाता । यदि किसी ने हमसे क्षमायाचना नही की, तो उसने स्वय की मानकषाय का त्याग नही किया और यदि हमने उसके द्वारा क्षमायाचना किए बिना ही क्षमा कर दिया तो हमने अपने क्रोधभाव का त्याग कर उसका नही, अपना ही भला किया है ।

इसीप्रकार हमारे द्वारा क्षमायाचना करने पर भी यदि कोई क्षमा नही करता है, तो क्रोध का त्याग नही करने से उसका ही बुरा होगा । हमने तो क्षमायाचना द्वारा मान का त्याग कर, अपने मे मार्दव-धर्म प्रकट कर ही लिया । उसके द्वारा क्षमा नही करने से, क्षमा माँगने से होने वाले लाभ से हम वचित नही रह सकते ।

यही कारण है कि आचार्यों ने अन्य जीवो द्वारा क्षमायाचना की प्रतीक्षा किए बिना ही सब जीवो को अपनी ओर से क्षमा करके तथा 'कोई क्षमा करेगा या नही' – इस विकल्प के बिना ही सबसे क्षमा-याचना करके अपने अन्तःस्थल मे उत्तमक्षमामार्दवादि धर्मों को धारण कर लिया ।

कोई जीव हमसे क्षमा मांगे, चाहे नही; हमे क्षमा करे, चाहे नही, हम तो अपनी ओर से सबको क्षमा करते हैं और सबसे क्षमा मागते हैं – इसप्रकार हम तो अब किसी के शत्रु नही रहे और न हमारी दृष्टि मे कोई हमारा शत्रु रहा है । जगत हमे शत्रु मानो तो मानो, जानो तो जानो, हमे इससे क्या ? और हमारा दूसरे की मान्यता पर अधिकार भी क्या है ?

हम तो अपनी मान्यता सुधार कर अपने मे जाते है, जगत की जगत जाने – ऐसी वीतराग परिणति का नाम ही सच्चे अर्थों मे क्षमावाणी है ।

क्षमावाणी का सही स्वरूप नही समझ पाने के कारण उसके प्रस्तुतीकरण मे भी अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो गई है ।

कुछ दिन पूर्व एक चित्र-प्रतियोगिता हुई थी, जिसमें क्षमावाणी को चित्र के माध्यम से प्रस्तुत करना था। सर्वोत्तम चित्र के लिये प्रथम पुरस्कार प्राप्त चित्र का जब प्रदर्शन किया गया तब चित्रकार के साथ-साथ निर्णायकों की समझ पर भी तरस आये बिना न रहा।

'क्षमा वीरस्य भूषणम्' के प्रतीकरूप मे दिखाए गये चित्र मे एक पौराणिक महापुरुष द्वारा एक अपराधी का वध चित्रित था। उसका जो स्पष्टीकरण किया जा रहा था, उसका भाव कुछ इस प्रकार था :–

"उक्त महापुरुष ने अपराधी के सौ अपराध क्षमा कर दिये, पर जब उसने एक सौ एकवाँ अपराध किया तो उसका सिर धड से अलग कर दिया।"

क्षमा के चित्रण मे हत्या के प्रदर्शन का औचित्य सिद्ध करते हुए कहा जा रहा था :–

"यदि वे एक सौ एकवे अपराध के बाद भी उसको नही मारते तो फिर वे कायर समझे जाते। कायर की क्षमा कोई क्षमा नही है; क्योंकि क्षमा तो वीर का भूषण है।

सौ अपराधो को क्षमा करने से तो क्षमा सिद्ध हुई और मार डालने से वीरता। इसप्रकार यह 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' का सर्वोत्कृष्ट प्रस्तुतीकरण है। यही कारण है कि इन्हें क्षमावाणी के अवसर पर तदर्थ प्रथम पुरस्कार दिया जा रहा है।"

क्षमा के साथ हिंसा की संगति ही नही, औचित्य सिद्ध करने वालो से मुझे कुछ नही कहना है। मैं तो मात्र यह कहना चाहता हूँ कि इस पौराणिक आख्यान को क्षमा का रूपक देने वालो ने इस तथ्य की ओर ध्यान क्यो नही दिया कि उनकी क्षमा क्रोधादि कषायों के अभावरूप परिणति का परिणाम नही थी, वरन् वे सौ अपराधों को क्षमा करने के लिये वचनबद्ध थे। उनकी वचनपालन की दृढता और ततूसम्बन्धी धैर्य तो प्रशसनीय है, परन्तु उसे उत्तमक्षमा का प्रतीक कैसे माना जा सकता है ?

दूसरी बात यह भी तो है कि क्या सच्चे क्षमाधारक की दृष्टि मे कोई दूसरा भी अपराध हो सकता है ? जब उसने प्रथम अपराध क्षमा ही कर दिया, तब अगला अपराध दूसरा कैसे कहा जा सकता है ? यदि उसे दूसरा कहे तो पहले को वह भूला कहाँ ? जब प्रथम

अपराध को क्षमा करने के बाद भी उसे भूल नहीं पाया तो फिर क्षमा ही क्या किया ?

वस्तुत बात यह है कि हमारी परिणति तो क्रोधादिमय हो रही है और शास्त्रों मे क्षमादि को अच्छा कहा है; अत. हम शास्त्रानुसार अच्छा वनने के लिए नही, वरन् अच्छा दिखने के लिए किसी क्रोध के रूप को ही क्षमा का नाम देकर क्षमाधारी बनना चाहते हैं।

क्षमाभाव का सर्वोत्कृष्ट चित्रण तो –

अरि-मित्र, महल-मसान, कंचन-काँच, निंदन-थुति करन।
अर्घावतारन – असिप्रहारन मे सदा समता धरन ।।[1]

ऐसी स्थिति को प्राप्त समताधारी मुनिराज का चित्रण ही हो सकता है।

क्षमा कायरता नही, क्षमा धारण करना कायरो का काम भी नही; पर वीरता भी तो मात्र दूसरों को मारने का नाम नही है, दूसरों को जीतने का नाम भी नही। अपनी वासनाओं को, कषायो को मारना; विकारों को जीतना ही वास्तविक वीरता है। युद्ध के मैदान मे दूसरो को जीतने वाले, मारने वाले युद्धवीर हो सकते है, धर्मवीर नही। धर्मवीर ही क्षमाधारक हो सकता है; युद्धवीर नही।

वीरता के क्षेत्र को भी हमने संकुचित कर दिया है। अब वीरता हमे युद्धों में ही दिखाई देती है; शांति के क्षेत्र में भी वीरता प्रस्फुटित हो सकती है, यह हमारी समझ मे ही नही आता। यही कारण है कि हमें 'क्षमा वीरस्य भूषणम्' को स्पष्ट करने के लिए हत्या दिखाना आवश्यक लगता है। हत्या दिखाये बिना वीरता का प्रस्तुतीकरण हमें सभव ही नही लगता।

जिस महापुरुष की लेखनी से यह महावाक्य प्रस्फुटित हुआ होगा, उसने सोचा भी न होगा कि इसकी ऐसी भी व्याख्या की जावेगी। एक हत्या भी क्षमा का एवं वीरता का प्रतीक बन जावेगी।

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि जिन दशधर्मों की आराधना के वाद यह क्षमावाणी महापर्व आता है, उनकी चर्चा आचार्य उमास्वामी ने मुनिधर्म के प्रसंग मे की है। दशधर्मों की आराधना का समग्र प्रतिफलन जिस क्षमावाणी मे प्रस्फुटित होता है,

[1] पं० दौलतरामजी: छहढाला, छठवी ढाल, छन्द ६

वह क्षमावाणी कैसी होती होगी या होनी चाहिए – यह गम्भीरता से विचारने की वस्तु है।

उसे मुनिराज पार्श्वनाथ की उस उपसर्गावस्था मे भली-भाँति देखा जा सकता है, जिसमें कमठ का उपसर्ग और धरणेन्द्र द्वारा उपसर्ग निवारण किया जा रहा था और पार्श्वनाथ का दोनों के प्रति समभाव था।

कहा भी है :–

कमठे धरणेन्द्रे च स्वोचित कर्म कुर्वति।
प्रभुस्तुल्य मनोवृत्ति पार्श्वनाथ. जिनोस्तु न ।।

अथवा उन मुनिराज के रूप मे चित्रित की जा सकती है जो कि गले मे मरा साँप डालने वाले राजा श्रेणिक और उस उपसर्ग को दूर करने वाली रानी चेलना को एक-सा आशीर्वाद देते है।

क्षमा के वास्तविक पौराणिकरूप तो ये है। क्या पार्श्वनाथ की वीरता में शंका की जा सकती है? नही, कदापि नहीं। इसीप्रकार वे मुनिराज भी क्या कम धीर-वीर थे जो उपसर्ग विजयी रहे। उपसर्गों में भी समता धारण किए रहना क्या कायरो का काम है,?

'क्षमा कायरो का धर्म न कहा जाने लगे' – इस भय से कही ऐसा न हो जावे कि हम उसे क्षमा ही न रहने दे।

जिस अपराध के लिए क्षमायाचना की गई है, यदि वही अपराध हम निरंतर दुहराते रहे तो फिर उस क्षमायाचना से भी क्या लाभ? जिस अपराध के लिए हम क्षमायाचना कर रहे हैं, वह अपराध हमसे दुवारा न हो – इसके लिए यदि हम प्रतिज्ञावद्ध न भी हो सके तो संकल्पशील या कम से कम प्रयत्नशील तो हमे होना ही चाहिये। अन्यथा यह सब गजस्नानवत् निष्फल ही रहेगा।

क्षमायाचना और क्षमादान – ये दोनो ही वृत्तियाँ हृदय को हल्का करने वाली उदात्त वृत्तियाँ है, वैरभाव को मिटाकर परमशान्ति प्रदान करने वाली हैं। प्रदान करने वाली भी क्या, अन्तर में प्रकट शान्ति का प्रतिफलन ही हैं।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और विशेष ध्यान देने योग्य वात यह है कि इस अज्ञानी आत्मा ने दूसरो से तो अनेकों वार क्षमायाचना की है, दूसरों को ही अनेको वार क्षमाप्रदान भी की है, पर आज तक स्वयं से न तो क्षमायाचना ही की है और न स्वय को क्षमा ही किया है। इसीलिए अनंत दुखी भी है।

यहाँ आप कह सकते है कि स्वय से क्या क्षमा माँगना और स्वय को क्षमा करना भी क्या ? पर भाई साहब ! आप यह क्यो भूल जाते है कि क्या आपने अपने प्रति कम अपराध किए है ? कम अन्याय किये हैं ? क्या अपने प्रति आपने कुछ कम क्रोध किया है ? क्या आपने अपना कुछ कम अपमान किया है ? इस तीनलोक के नाथ को विषयों का गुलाम और दर-दर का भिखारी नही बना दिया है ? इसे अनत दु ख नही दिये है ? क्या इसकी आपने आज तक सुध भी ली है ?

ये है वे कुछ महान् अपराध जो आपने अपनी आत्मा के प्रति किए हैं और जिनकी सजा आप स्वय अनंतकाल से भोग रहे हैं। जब तक आप स्वयं अपने आत्मा की सुध-बुध नही लेंगे, उसे नही जानेंगे, नही पहिचानेंगे, उसमें ही नही जम जायेंगे, नही रम जायेंगे, तब तक इन अपराधो और अशान्ति से मुक्ति मिलने वाली नहीं है।

निजात्मा के प्रति अरुचि ही उसके प्रति अनन्त क्रोध है। जिसके प्रति हमारे हृदय में अरुचि होती है, उसकी उपेक्षा हमसे सहज ही होती रहती है। अपनी आत्मा को क्षमा करने और उससे क्षमा माँगने का आशय मात्र यही है कि हम उसे जानें, पहिचानें और उसीमे रम जांय। स्वय को क्षमा करने और स्वय से क्षमा मांगने के लिए वाणी की औपचारिकता की आवश्यकता नही है। निश्चयक्षमावाणी तो स्वयं के प्रति सजग हो जाना ही है, उसमें पर की अपेक्षा नही रहती। तथा आत्मा के आश्रय से क्रोधादिकषायो के उपशान्त हो जाने से व्यवहारक्षमावाणी भी सहज ही प्रस्फुटित होती हैं।

अत दूसरो से क्षमायाचना करने एवं क्षमा करने के साथ-साथ हम स्वय को भी क्षमाकर स्वयं मे ही जम जांय, रम जांय और अनन्त शान्ति के सागर निजशुद्धात्मतत्त्व मे निमग्न हो अनन्त काल तक अनन्त आनन्द में मग्न रहे — इस पवित्र भावना के साथ विराम लेता हूँ।



लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	पंडित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व [हिन्दी]	११.००
२.	तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ	६.००
	[हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड]	६ ००
३	धर्म के दशलक्षण [हि , गु , म , क , तमिल]	
४	क्रमबद्धपर्याय [हि., गु , म., क , त.]	४.५०
५.	अपने को पहिचानिए [हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी]	० ५०
६	सर्वोदय तीर्थ [हिन्दी]	२.००
७.	मैं कौन हूँ ? [हि., गु , म , क , त]	१.००
८.	युगपुरुष श्री कानजी स्वामी [हि., गु , म , क., त.]	१ ००
९.	अनेकान्त और स्याद्वाद [हिन्दी, कन्नड]	०.३५
१०.	तीर्थंकर भगवान महावीर [हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, असमी, तेलगु, अंग्रेजी]	०.४०
११.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका [हिन्दी]	३.००
१२.	पंडित टोडरमल : जीवन और साहित्य [हि., गु]	०.६५
१३.	अर्चना (पूजन सग्रह) [हिन्दी]	०.४०
१४.	बालबोध पाठमाला भाग २ [हि गु. म. क त. बगला]	०.८५
१५.	बालबोध पाठमाला भाग ३ [हि. गु म. क. त. बंगला]	०.८५
१६.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग १ [हि , गु , म , क.]	०.८५
१७.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग २ [हि., गु., म., क]	१.००
१८.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग ३ [हि , गु., म , क]	१.००
१९.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग १ [हि , गु , म , क.]	१.२५
२०.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग २ [हिन्दी, गुजराती]	१.४०
२१.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर [हि., गु]	०.२५
२२.	सत्य की खोज भाग १ [हिन्दी, गुजराती, कन्नड़]	२.००
	सत्य की खोज भाग २ [हिन्दी, गुजराती, कन्नड़]	२ ५०
	सत्य की खोज सम्पूर्ण [हि , गु., म., त., क.]	४.००

अभिमत

लोकप्रिय पत्र-पत्रिकाओं एवं विद्वानों की दृष्टि में प्रस्तुत प्रकाशन –

★ **पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)**

श्री भारिल्लजी की विचार-सरणि और लेखन शैली दोनो ही हृदयग्राही हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ दशधर्मों पर इतना सुन्दर आधुनिक ढग का विवेचन इससे पहिले मेरी दृष्टि मे नही आया, इससे एक बडे अभाव की पूर्त्ति हुई है। दशलक्षण पर्व मे प्राय नवीन प्रवक्ता इसप्रकार की पुस्तक की खोज मे रहते थे। ब्रह्मचर्य पर अन्तिम लेख मैंने पिछले आत्मधर्म मे पढ़ा था, उसमे 'ससार मे विषवेल नारी' का अच्छा विश्लेषण किया है। — कैलाशचन्द्र

★ **पं० जगन्मोहनलालजी शास्त्री, कटनी (म० प्र०)**

दशधर्मों पर पंडितजी (डॉ० भारिल्ल) के विवेचन मैंने हिन्दी आत्मधर्म मे भी पढे थे। मुझे उनको पढकर उसी समय बहुत प्रसन्नता का अनुभव हुआ था। नई पीढी के विद्वानो मे डॉ० भारिल्ल अग्रगण्य है। इनकी लेखनी को सरस्वती का वरदान है, ऐसा लगता है। डॉ० साहब ने साहित्य के क्षेत्र मे इस पुस्तक पर सचमुच डॉक्टरी का प्रयोग किया है। दशधर्मों की औषधि का प्रयोग, दशविकारो की बीमारी का पूरा ऑपरेशन कर, बहुत सुन्दरता से किया है। इतना विशद् सागोपाङ्ग वर्णन आधुनिक भाषा व आधुनिक शैली मे अन्यत्र दिखाई नही देता। पुस्तक आज के युग मे नये विद्वानो को दशधर्म का पाठ पढाने को उत्तम है। भाषा प्राजल है। एक बार शुरू करने पर पुस्तक छोड़ने को जी नहीं चाहता। विषय हृदय को छूता है। कई स्थल ऐसे हैं जिनका अच्छा विश्लेषण किया गया है। — जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री

★ **पं० फूलचन्द्रजी सिद्धान्ताचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)**

जिसप्रकार आगम मे द्रव्य के आत्मभूत लक्षण की दृष्टि से उसके दो लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, उनके द्वारा एक ही वस्तु कही गई है; उसीप्रकार धर्म के आत्मभूतस्वरूप की दृष्टि से आगम मे धर्म के दशलक्षण निबद्ध किये गये हैं। उनके द्वारा वीतराग-रत्नत्रयधर्मस्वरूप एक ही वस्तु कही गई है, उनमे अन्तर नही है। 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक इसी तथ्य को हृदयगम करने की दृष्टि से लिखी गई है। स्वाध्याय प्रेमियो को इस दृष्टि से इसका स्वाध्याय करना चाहिए। इससे उन्हें धर्म के स्वरूप को समझने मे पर्याप्त सहायता मिलेगी। आपके इस सफल प्रयास के लिए आप अभिनन्दन के पात्र हैं। वर्त्तमान काल मे दशलक्षण पर्व को पर्यूषण कहने की परिपाटी चल पड़ी है, किन्तु यह गलत परम्परा है। पर्व का सही नाम दशलक्षण पर्व है। हमे देखा-देखी छोड़कर वस्तुस्थिति को समझना चाहिए।.... ....आप अपनी साहित्य सेवा से समाज को इसीप्रकार मार्ग-दर्शन करते रहें। — फूलचन्द्र शास्त्री

* **वयोवृद्ध विद्वान् ब्र० पं० मुन्नालालजी रांघेलीय(वर्णी), न्यायतीर्थ, सागर, म०प्र०**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित पुस्तक 'धर्म के दशलक्षण' की प्रशसा पर्याप्त की जा रही है, वह योग्य है, उसमे कोई अत्युक्ति नही है। उसको हम दूसरे रूप मे लेते हैं। वह प्रशसा जड़पुस्तक की नही है, अपितु उसके लेखक समाजमान्य चेतनज्ञान-धनी प० भारिल्लजी की है। नई पीढ़ी मे पडितजी जैसे तलस्पर्शी तत्त्वज्ञ विद्वानो की अत्यन्त आवश्यकता है, खाली पदवीधारियो (लेबिलो) की नही। यद्यपि पडितजी मे और भी अनेक विशेषताएँ (कलाएँ) है, तथापि जो तत्काल आवश्यक है वह तर्कणा और प्रतिभा का संगम है, जो सोने मे सुगंध है, वह भारिल्लजी मे है।

वास्तव मे धर्म का स्वरूप और उसके दश अगो का चित्रण आजकल की भाषा मे और आजकल के ढग (वैज्ञानिक तरीका) मे अतीव सुन्दर (मनोहारी) किया है जिसका हम हार्दिक समर्थन करते हैं।

* **स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्य, एम०ए०, शास्त्री, मूडबिद्री**

समाजमान्य विद्वद्वर्य डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' देखकर परम हर्ष हुआ। इसमे कोई दो राय नही है कि डॉ० भारिल्लजी सिद्धहस्त लेखक हैं और है प्रवुद्ध वक्ता। .... "उत्तमक्षमादि दशधर्मों का सूक्ष्म विश्लेषण सरल शैली मे व्यक्त किया गया है। इस कर्त्तृत्व की सर्वोपरि विशिष्टता यह है कि इसमे दशधर्मों का तात्त्विक दृष्टि से सरस, सरल व सुवोध शैली से प्रतिपादन किया गया है। इस दृष्टि से दशधर्मों का विवेचन प्राय अब तक देखने मे नही आया है। दशधर्मों पर प्रस्तुत और भी जो कृतियाँ हैं, उनमे भी प्राय तात्त्विक दृष्टि से विवेचन का पक्ष अगोचर ही रहा है। विद्वान लेखक ने उत्तमक्षमादि प्रत्येक धर्म पर तथ्यात्मक, रोचक व वहुत ही सुन्दर ढग से सफल लेखनी चलाई है। नयनाभिराम मुद्रणादि से सम्पन्न प्रस्तुत 'धर्म के दशलक्षण' उपहार से पाठको तथा समाज को सत्पथ का दिग्दर्शन तो होगा ही, साथ ही आत्मा के धर्म को पाने के लिए भी सम्यक् दिशा प्राप्त होगी।

— चारुकीर्ति

* **पं० खीमचन्दभाई जेठालाल शेठ, सोनगढ़ (गुजरात)**

आत्मा की पर्युपासना करने का महान मगलमय पर्व ही पर्यूषण है। दशलक्षण धर्म की आराधना मुख्यतया पूज्य मुनिराजो द्वारा होती है, उसका स्पष्ट निर्देशन डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' नामक पुस्तक मे मिलता है। श्री शास्त्रीजी अभिनव दृष्टि से विचार करने वाले हैं, सव लेखो मे उनके व्यक्तित्व का प्रभाव आनन्द का अनुभव कराता है। इस पुस्तक मे उन्होने दशधर्मो का विवेनन सर्वजन-समत शैली से किया है, वह अतीव

प्रशंसनीय है और इसके लिए वे अभिनन्दन के पात्र है। उनके सब लेख सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा सब को धर्म-आराधना में अत्यन्त सहायक होंगे। — खीमचन्द

★ सिद्धान्तरत्न पं० नन्हेलालजी, न्यायसिद्धान्तशास्त्री, राजाखेड़ा (राज०)

डॉ० भारिल्ल ने बडी गहराई के साथ दशलक्षणो का अपूर्व विवेचन किया है। अभी तक इस विषय मे ऐसा सागोपाग विवेचन अन्यत्र कही देखने मे नही आया है। डॉ० भारिल्ल ने अपने प्रतिभागत तर्क-वितर्क और प्रश्नोत्तर की शैली से पुस्तक को अत्यधिक उपयोगी बना दिया है। डॉ० भारिल्ल के विशुद्ध क्षयोपशम की जितनी तारीफ की जाये कम है। मेरी शुभकामना है कि भारिल्लजी का भविष्य इससे भी अधिक उज्जवल और उन्नतिशील बने।

★ डॉ० दरबारीलालजी कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी (उ०प्र०)

………इसमे आपने अपनी सहज, अनुभवपूर्ण और समीक्षात्मक शैली से उक्त दशधर्मों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इसमे सदेह नही कि आपका प्रयत्न बहुत सफल हुआ है। कही-कही चुटकी भी ली है………पर वह चुटकी गलत नही है।………ब्रह्मचर्य का जो चित्रण किया है वह जी को लगता है और वह उचित प्रतीत होता है।………मुझे आशा है आपकी सन्तुलित लेखनी द्वारा चारो अनुयोगो की उपयोगिता और महत्त्व पर भी एक ऐसी ही पुस्तक प्रस्तुत होगी। हार्दिक बधाई ! पुस्तक का प्रकाशन और साज-सज्जा भी उत्तम है। — दरबारीलाल कोठिया

★ प० बंशीधरजी शास्त्री, एम० ए०, जयपुर (राज०)

पहले प० सदासुखजी के दशधर्मो पर विवेचन पुस्तकाकार प्रकाशित हुए है। दो-एक अन्य लेखको के भी पढे हैं, किन्तु इस पुस्तक मे धर्मों पर समीचीन एव सर्वांगीण विवेचन सहज एव सरल शैली मे किया गया है। इसमे धर्मो की निश्चय-व्यवहार के आधार से सुन्दर बोधगम्य परिभाषा निर्धारित की गई हैं। दशधर्मों एव क्षमावाणी के सम्बन्ध मे कई भ्रान्तियो का निरसन युक्तिपूर्ण ढंग से किया गया है। इसप्रकार यह पुस्तक विद्वान् एव साधारण वर्ग के लिये उपयोगी बन गई है। इसका पठन-पाठन विद्यालय के छात्रो मे भी करवाना चाहिये। पर्यूषण पर्व के अतिरिक्त भी इसका नियमित अध्ययन प्रत्येक तत्त्वजिज्ञासु को करना चाहिए। ऐसे सुन्दर एव तथ्यपूर्ण विवेचन के प्रकाशन के लिए सभी सम्बन्धित व्यक्ति धन्यवाद के पात्र हैं।

★ डॉ० पन्नालालजी जैन, साहित्याचार्य, सागर, मंत्री, श्री भा०दि० जैन विद्वत्परिषद्

आकर्षक आवरण, हृदयहारी साजसज्जा, सरल, सुबोध भाषा और हृदय पर सद्य प्रभाव करने वाली वर्णन शैली से पुस्तक का महत्त्व बढ़ गया है। इस सर्वोपयोगी प्रकाशन और लेखन के लिए धन्यवाद। — पन्नालाल जैन

★ **श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर (राजस्थान)**

आत्मधर्म में जबसे दशलक्षणो सम्बन्धी भारिल्लजी की लेखमाला प्रकाशित होने लगी मैं रुचिपूर्वक उसे पढ़ता रहा। डॉ० भारिल्ल के मौलिक चिन्तन से प्रभावित भी हुआ। उन्होंने धर्म के दशलक्षणो के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट किये हैं, अन्य कई बातें विचारोत्तेजक व मौलिक हैं। अब तक इन लक्षणो के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा व लिखा जाता रहा है, पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करना सबके वश की बात नही है। डॉ० भारिल्ल मे जो प्रतिभा और सूझ-बूझ है उसका प्रतिफलन इस विवेचन मे प्रगट हुआ है। आशा है इससे प्रेरणा प्राप्त कर अन्य विद्वान भी नया चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। डॉ० भारिल्ल ने जो प्रश्न उपस्थित किये हैं वे बहुत ही विचारणीय व मननीय हैं। धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध मे उनका चिन्तन और भी गहराई मे जावे और वे मौलिक तथ्य प्रकाशित करते रहें, यही शुभ कामना है। प्रस्तुत ग्रंथ का अधिकाधिक प्रचार वांछनीय है। प्रकाशन बहुत सुन्दर हुआ है और मूल्य भी उचित रखा गया है। — अगरचंद नाहटा

★ **श्री अक्षयकुमारजी जैन, भूतपूर्व सम्पादक 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली**

······ पुस्तक बहुत उपयोगी और सामयिक है। सीधी-सादी भाषा मे धर्म के दशलक्षणो का सुन्दर विवेचन डॉ० भारिल्ल ने किया है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार होगा जिससे सामान्यजन को लाभ पहुँचेगा। — अक्षयकुमार जैन

★ **पं० ज्ञानचंदजी 'स्वतंत्र', शास्त्री, न्यायतीर्थ, गंजबासौदा (विदिशा – म० प्र०)**

डॉ० भारिल्लजी जैन-जगत के बहुचर्चित, बहुप्रसिद्ध, उच्चकोटि के विद्वान हैं। विद्वता के साथ-साथ आप प्रवर सुवक्ता, कुशल पत्रकार, ग्रथ निर्माता, सुकवि भी हैं। दशलक्षण धर्म पर अनेक मुनियो, विद्वानो एव त्यागियो ने छोटे-बड़े ग्रंथ एव पुस्तकें लिखी हैं, पर उन सब मे डॉ० भारिल्लजी द्वारा लिखित "धर्म के दशलक्षण" ग्रथ सर्वोपरि है। इसमे आध्यात्मिक विद्या (ब्रह्म विद्या) के आधार पर तात्त्विकी सैद्धान्तिक विवेचना की है। भाषा प्राजल, सरल, सुबोध एव सुरुचिपूर्ण है। आप कोई भी चेप्टर लेकर बैठ जाइए, जब तक पूरा न पढ लेंगे तब तक मन मे अतृप्ति-सी बनी रहती है। इसी का नाम सत्-साहित्य है। आपकी यह सुन्दर, नूतन, मौलिक रचना पठनीय तो है ही, पर अनुभवन और मन्थन की भी वस्तु है। — ज्ञानचंद जैन 'स्वतंत्र'

★ **ब्र० पं० माणिकचंदजी भीसीकर, बाहुबली (कुंभोज), संपादक 'सन्मति' (मराठी)**

· 'आपके इस ग्रथ मे धर्मो के लक्षणो का आविष्कार करते समय जिस अनौपचारिक, शुद्ध, तत्त्वनिरूपण पद्धति का अवलम्ब किया गया वह तलस्पर्शी

हुआ है। इस परिश्रमसाध्य निरामय पुरुषार्थ की हार्दिक सराहना है। पुस्तक बहुत ही उपयुक्त एवं प्रेरणादायी प्रतीत हुई है। — माणिकचंद भीसीकर

★ डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, प्रोफेसर, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर (म० प्र०)

····ये लेख आत्मधर्म के सम्पादकीय मे धारावाहिकरूप से प्रकाशित होते रहे हैं, परन्तु उनका एक जगह संकलन कर ट्रस्ट ने बढिया काम किया। इससे पाठको को धर्म के विविध लक्षणो का मनन, एक साथ, एक दूसरे के तारतम्य मे करने का अवसर प्राप्त होगा। मुझे यह कहने मे कोई सकोच नही है कि लेखो की भाषा इतनी सरल और सुबोध है कि उससे आम आदमी भी तत्त्व की तह मे पहुँच सकता है। डॉ० भारिल्ल ने परम्परागत शैली से हटकर धर्म के क्षमादि लक्षणो का सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसलिए उसमे धार्मिक नीरसता के बजाय सहज मानवी स्पदन है········। विश्वास है कि यह पुस्तक लोगो को धर्म की अनुभूति की प्रेरणा देगी। — देवेन्द्रकुमार जैन

★ डॉ० भागचन्द्रजी जैन भास्कर, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)

डॉ० भारिल्ल समाज के जाने-माने विद्वान, व्याख्याता हैं। उनकी व्याख्यान किंवा प्रवचन शैली बडी लोकप्रिय हो गई है। वही शैली इस पुस्तक मे आद्योपान्त दिखाई देती है। विषय और विवेचन गंभीर होते हुए भी सर्वसाधारण पाठक के लिए ग्राह्य बन गया है। अतः लेखक एवं प्रकाशक दोनो अभिनन्दनीय हैं। — भागचन्द्र जैन भास्कर

★ महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल नई पीढी के प्रबुद्ध, लगनशील एव उच्चकोटि के विद्वान हैं।·····'धर्म के दशलक्षण' उनकी अपने ढग की एक सर्वथा नवीन कृति है। डॉ० भारिल्ल ने अपनी इस रचना मे अत्यन्त सरल भाषा मे जैनधर्म के मौलिक दश आदर्शों का प्राचीन ग्रथो के उद्धरणो के साथ सोदाहरण विवेचन किया है। दशधर्मों का ऐसा शास्त्रीय निरूपण अभी तक एकत्र अनुपलब्ध था। पर्यूषण पर्व मे व्याख्यान करने वालो को तो यह कृति अत्यन्त सहायक होगी। — हरीन्द्रभूषण जैन

★ डॉ० प्रेमसुमनजी जैन, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)

····डॉ० भारिल्ल ने बडी रोचक शैली मे धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है। आध्यात्मिक रुचि वाले पाठको के लिए इस पुस्तक मे चिन्तन-मनन की भरपूर सामग्री है। मेरी ओर से डॉ० भारिल्ल को इस सुन्दर एव सारगर्भित कृति के लिए बधाई प्रेषित करें। — प्रेमसुमन जैन

★ **श्री अगरचन्दजी नाहटा, बीकानेर (राजस्थान)**

आत्मधर्म मे जबसे दशलक्षणो सम्बन्धी भारिल्लजी की लेखमाला प्रकाशित होने लगी मैं रुचिपूर्वक उसे पढता रहा। डॉ० भारिल्ल के मौलिक चिन्तन से प्रभावित भी हुआ। उन्होंने धर्म के दशलक्षणो के सम्बन्ध मे अपने विचार प्रगट किये हैं, अन्य कई बातें विचारोत्तेजक व मौलिक हैं। अब तक इन लक्षणो के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा व लिखा जाता रहा है, पर मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करना सबके वश की बात नही है। डॉ० भारिल्ल मे जो प्रतिभा और सूझ-बूझ है उसका प्रतिफलन इस विवेचन मे प्रगट हुआ है। आशा है इससे प्रेरणा प्राप्त कर अन्य विद्वान भी नया चिन्तन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे। डॉ० भारिल्ल ने जो प्रश्न उपस्थित किये हैं वे बहुत ही विचारणीय व मननीय हैं। धर्म और अध्यात्म के सम्बन्ध मे उनका चिन्तन और भी गहराई मे जावे और वे मौलिक तथ्य प्रकाशित करते रहें, यही शुभ कामना है। प्रस्तुत ग्रथ का अधिकाधिक प्रचार वांछनीय है। प्रकाशन बहुत सुन्दर हुआ है और मूल्य भी उचित रखा गया है। — अगरचंद नाहटा

★ **श्री अक्षयकुमारजी जैन, भूतपूर्व सम्पादक 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली**

………पुस्तक बहुत उपयोगी और सामयिक है। सीधी-सादी भाषा मे धर्म के दशलक्षणो का सुन्दर विवेचन डॉ० भारिल्ल ने किया है। मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का अधिकाधिक प्रचार होगा जिससे सामान्यजन को लाभ पहुँचेगा। — अक्षयकुमार जैन

★ **पं० ज्ञानचंदजी 'स्वतंत्र', शास्त्री, न्यायतीर्थ, गंजबासौदा (विदिशा — म० प्र०)**

डॉ० भारिल्लजी जैन-जगत के बहुचर्चित, बहुप्रसिद्ध, उच्चकोटि के विद्वान हैं। विद्वता के साथ-साथ आप प्रवर सुवक्ता, कुशल पत्रकार, ग्रथ निर्माता, सुकवि भी हैं। दशलक्षण धर्म पर अनेक मुनियो, विद्वानो एव त्यागियो ने छोटे-बड़े ग्रंथ एव पुस्तकें लिखी हैं, पर उन सब मे डॉ० भारिल्लजी द्वारा लिखित "धर्म के दशलक्षण" ग्रथ सर्वोपरि है। इसमे आध्यात्मिक विद्या (ब्रह्म विद्या) के आधार पर तात्त्विकी सैद्धान्तिक विवेचना की है। भाषा प्रांजल, सरल, सुबोध एव सुरुचिपूर्ण है। आप कोई भी चेप्टर लेकर बैठ जाइए, जब तक पूरा न पढ लेंगे तब तक मन मे अतृप्ति-सी बनी रहती है। इसी का नाम सत्-साहित्य है। आपकी यह सुन्दर, नूतन, मौलिक रचना पठनीय तो है ही, पर अनुभवन और मन्थन की भी वस्तु है। — ज्ञानचंद जैन 'स्वतंत्र'

★ **ब्र०पं० माणिकचंदजी भीसीकर, बाहुबली (कुंभोज), संपादक 'सन्मति' (मराठी)**

…आपके इस ग्रथ मे धर्मों के लक्षणो का आविष्कार करते समय जिस अनोपचारिक, शुद्ध, तत्त्वनिरूपण पद्धति का अवलम्ब किया गया वह तलस्पर्शी

हुआ है। इस परिश्रमसाध्य निरामय पुरुषार्थ की हार्दिक सराहना है। पुस्तक बहुत ही उपयुक्त एव प्रेरणादायी प्रतीत हुई है। — माणिकचंद भीसीकर

★ **डॉ० देवेन्द्रकुमारजी जैन, प्रोफेसर, इन्दौर विश्वविद्यालय, इन्दौर (म० प्र०)**

....ये लेख आत्मधर्म के सम्पादकीय मे धारावाहिकरूप से प्रकाशित होते रहे हैं, परन्तु उनका एक जगह संकलन कर ट्रस्ट ने बढ़िया काम किया। इससे पाठको को धर्म के विविध लक्षणो का मनन, एक साथ, एक दूसरे के तारतम्य मे करने का अवसर प्राप्त होगा। मुझे यह कहने मे कोई सकोच नही है कि लेखो की भाषा इतनी सरल और सुबोध है कि उससे आम आदमी भी तत्त्व की तह मे पहुँच सकता है। डॉ० भारिल्ल ने परम्परागत शैली से हटकर धर्म के क्षमादि लक्षणो का सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इसलिए उसमे धार्मिक नीरसता के बजाय सहज मानवी स्पदन है........। विश्वास है कि यह पुस्तक लोगो को धर्म की अनुभूति की प्रेरणा देगी। — देवेन्द्रकुमार जैन

★ **डॉ० भागचन्द्रजी जैन भास्कर, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर (महाराष्ट्र)**

डॉ० भारिल्ल समाज के जाने-माने विद्वान, व्याख्याता हैं। उनकी व्याख्यान किंवा प्रवचन शैली बडी लोकप्रिय हो गई है। वही शैली इस पुस्तक मे आद्योपान्त दिखाई देती है। विषय और विवेचन गभीर होते हुए भी सर्वसाधारण पाठक के लिए ग्राह्य बन गया है। अतः लेखक एवं प्रकाशक दोनों अभिनन्दनीय हैं। — भागचन्द्र जैन भास्कर

★ **महामहोपाध्याय डॉ० हरीन्द्रभूषणजी जैन, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन**

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल नई पीढी के प्रबुद्ध, लगनशील एव उच्चकोटि के विद्वान हैं।.....'धर्म के दशलक्षण' उनकी अपने ढग की एक सर्वथा नवीन कृति है। डॉ० भारिल्ल ने अपनी इस रचना मे अत्यन्त सरल भाषा मे जैनधर्म के मौलिक दश आदर्शों का प्राचीन ग्रथो के उद्धरणो के साथ सोदाहरण विवेचन किया है। दशधर्मों का ऐसा शास्त्रीय निरूपण अभी तक एकत्र अनुपलब्ध था। पर्यूषण पर्व मे व्याख्यान करने वालो को तो यह कृति अत्यन्त सहायक होगी। — हरीन्द्रभूषण जैन

★ **डॉ० प्रेमसुमनजी जैन, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर (राज०)**

....डॉ० भारिल्ल ने बड़ी रोचक शैली मे धर्म के स्वरूप को स्पष्ट किया है। आध्यात्मिक रुचि वाले पाठको के लिए इस पुस्तक मे चिन्तन-मनन की भरपूर सामग्री है। मेरी ओर से डॉ० भारिल्ल को इस सुन्दर एवं सारगर्भित कृति के लिए बधाई प्रेषित करें। — प्रेमसुमन जैन

★ इतिहासरत्न, विद्यावारिधि डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल, जयपुर (राज०)

....दशधर्मो पर डॉ० भारिल्ल सा० के लेखो को पुस्तकरूप मे प्रकाशित करके बहुत अच्छा काम किया है। विद्वान् मनीषी ने अपनी सुबोध शैली मे दशधर्मो पर सारगर्भित एव मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं, जिनको पढकर प्रत्येक पाठक इन धर्मो के वास्तविक रहस्य को सरलता से जान सकता है तथा उन पर चिन्तन एव मनन कर सकता है। पुस्तक की छपाई एव गेट-अप दोनो ही नयनाभिराम हैं।

— कस्तूरचन्द कासलीवाल

★ डॉ० ज्योतिप्रसादजी जैन, लखनऊ (उ० प्र०)

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल आध्यात्मिक शैली के प्रतिष्ठित सुचिन्तक, सुवक्ता, सुलेखक हैं। प्रस्तुत पुस्तक मे उन्होने प्रसादगुण-सम्पन्न शैली मे धर्म के उत्तमक्षमादि दश पारम्परिक लक्षणो अथवा आत्मिक गुणो का युक्तियुक्त विवेचन किया है, जो सैद्धान्तिक से अधिक मनोवैज्ञानिक है, और साधक को विभिन्न भूमिकाओ के परिपेक्ष्य मे अन्तर एवं बाह्य, निश्चय एवं व्यवहार, विविध दृष्टियो के समावेश के कारण विचारोत्तेजक है, अतः पठनीय एव मननीय है।

— ज्योतिप्रसाद जैन

★ डॉ० राजेन्द्रकुमारजी बंसल, कार्मिक अधिकारी, ओ. पी. मिल्स, शहडोल (म०प्र०)

.... लेखक ने आत्मकल्याण-परक पाठकों एवं सत्यान्वेषी जिज्ञासुओ के लिए सारगर्भित, उपयोगी एव तलस्पर्शी सामग्री प्रस्तुत की है, जिसे पढकर पाठक के मन मे अज्ञानतायुक्त परम्परागत धार्मिक क्रियाओ की निःसारता स्वत सहजरूप से प्रकट हो जाती है। लेखक चिन्तनशील पाठक के हृदय को उद्वेलित करने मे सफल रहा है।

— राजेन्द्रकुमार बंसल

★ डॉ० राजकुमारजी जैन, प्रोफेसर, आगरा कॉलेज, आगरा (उ० प्र०)

डॉ० भारिल्ल ने इस ग्रथ मे धर्म के दशलक्षणो की बडी ही वैज्ञानिक एव हृदयग्राही विवेचना की है। दशलक्षण धर्म पर अध्यात्मचिन्तन-प्रधान एवं मनोरम विवेचना प्रथम बार ही देखने को मिली। ग्रथ के प्रत्येक पृष्ठ पर डॉ० भारिल्ल के गहन आत्मचिन्तन एव उनकी सरस, सुबोध तथा आत्मस्पर्शी शैली के दर्शन होते है। निश्चय ही इस ग्रथ के प्रचार-प्रसार से आत्मरसिकजनो को धर्म के मर्म का सम्यक् बोध होगा और उनमे यथार्थ धर्म-चेतना जागृत होगी। दशलक्षण धर्म पर बडी महत्त्वपूर्ण रचना आपने मुमुक्षु जगत् को प्रदान की है। एतदर्थ प्रत्येक अध्यात्मप्रेमी आपका चिरऋणी रहेगा।

— राजकुमार जैन

★ डॉ० नेमीचन्दजी जैन, इन्दौर (म० प्र०), संपादक 'तीर्थंकर' (मासिक)

.... आइन्स्टीन ने अपने एक लेख "रिलीजन एण्ड साइन्स : इर्रिकान्सिलेबिल" मे लिखा है कि "समाधान को अधिक पेचीदा बनाने वाला तथ्य

यह है कि अधिकाश लोग विज्ञान के अर्थ पर तो तुरन्त सहमत हो जाते हैं, किन्तु ये ही लोग धर्म के अर्थ पर एक नही हो पाते।" किन्तु जब कोई 'धर्म के दशलक्षण' को आद्यन्त पढ जाता है तो उसे आइन्स्टीन की गाठ खोलने मे काफी सुविधा होती है। वस्तुत उसे इस किताब मे से धर्मान्धता के बाहर होने की एक तर्कसगत निसैनी मिल जाती है। श्री कानजी स्वामी ने धर्म को विज्ञान का धरातल दिया है, और प्रस्तुत पुस्तक उसी शृ खला की एक और प्रशस्त कड़ी है। मुझे विश्वास है इसे पूर्वाग्रहो और मतभेदो से हटकर धर्म की एक निष्कलुष, निर्मल, निर्धूम छवि पाने के लिए अवश्य पढा जाएगा। डॉ॰ भारिल्ल बधाई के पात्र हैं कि उन्होने एक सही वक्त पर सही काम किया है। अभी हमे विद्वान् लेखक से लोकचरित्र को ऊँचाइयाँ प्रदान करने वाले अनेकानेक ग्रन्थो की अपेक्षा है। — **नेमीचन्द जैन**

★ **डॉ॰ कन्छेदीलालजी जैन, साहित्याचार्य, शहडोल (म॰प्र॰), सह-सं॰ 'जैन संदेश'**

पुस्तक मे प्रत्येक धर्म के अन्तरग पक्ष को अच्छी तरह स्पष्ट किया है। छपाई तथा टाइप नयनाभिराम है। मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ न होना भी प्रकाशन की विशेषता है। — **कन्छेदीलाल जैन**

★ **डॉ॰ कुलभूषण लोखंडे, सोलापुर (महाराष्ट्र), संपादक 'दिव्यध्वनि' (मासिक)**

अध्यात्म-विद्या के लोकप्रिय प्रवक्ता तथा उच्चकोटि के विद्वान डॉ॰ हुकमचद भारिल्ल द्वारा लिखित "धर्म के दशलक्षण" नामक पुस्तक मे पर्यूषण मे होने वाले उत्तमक्षमादि दशधर्मों के सबध मे मार्मिक विवेचन प्रस्तुत हुआ है। इस ग्रथ मे डॉ॰ भारिल्लजी ने दशलक्षण महापर्व के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक विवरण देकर उत्तमक्षमा से लेकर उत्तमब्रह्मचर्य तथा क्षमावाणी तक का गभीर एव तलस्पर्शी विवेचन किया है।........डॉ॰ भारिल्ल की दृष्टि वैसे पर से स्व तक ले जाने की, विकार से निर्विकार की ओर या विभाव से स्वभाव की ओर ले जाने की सूक्ष्म है, फिर भी सरल है, यह इस ग्रथ के द्वारा स्पष्ट होता है। हम समझते हैं कि ऐसे मूलग्राही व धर्म के अगो का सही चिन्तन प्रस्तुत करने वाले ग्रथ की अतीव आवश्यकता है। वह आवश्यकता डॉ॰ भारिल्ल ने इस ग्रथ द्वारा पूर्ण की है। — **कुलभूषण लोखंडे**

★ **डॉ॰ नरेन्द्र भानावत, प्राध्यापक, राज॰ विश्वविद्यालय, सम्पादक 'जिनवाणी'**

डॉ॰ हुकमचन्द भारिल्ल प्रसिद्ध आध्यात्मिक प्रवक्ता होने के साथ-साथ प्रबुद्ध विचारक, सरस कथाकार और सफल लेखक हैं। उनकी सद्य प्रकाशित पुस्तक 'धर्म के दशलक्षण' एक उल्लेखनीय कृति है। इसमे उत्तमक्षमा-मार्दव आदि दशधर्मो का गूढ पर सरस,-शास्त्रीय-पर-जीवन्त, प्रेरक, विवेचन — विश्लेपण हुआ है। लेखक ने धर्म के इन लक्षणो को चित्तवृत्तियो के रूप मे

प्रस्तुत कर धर्म, मनोविज्ञान और साहित्य का सुन्दर समन्वय किया है। लेखक शास्त्रीय संवेदन के धरातल से प्रेरित होकर अपनी बात अवश्य कहता है, पर वह उसकी रूढ़िवादिता व गतानुगतिकता से ऊपर उठकर धर्म की प्रगतिशीलता एवं मनस्तत्त्वता को रेखांकित करता हुआ उसे शाश्वत जीवनमूल्य के रूप मे व्याख्यानित करता है। भारिल्लजी की यह दृष्टि पुस्तक को मूल्यवत्ता प्रदान करती है। हार्दिक बधाई !
— नरेन्द्र भानावत

★ **डॉ० हीरालालजी माहेश्वरी, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर**

डॉ० हुकमचन्दजी भारिल्ल द्वारा लिखित 'धर्म के दशलक्षण' पुस्तक पढ़कर अतीव प्रसन्नता हुई। जैनधर्म-प्रेमियो के लिए विशेषत. और अध्यात्म-प्रेमियो के लिए सामान्यत यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय और विचारोत्तेजक है।

★ **श्री उदयचन्द्रजी जैन, प्राध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ०प्र०)**

""पुस्तक का बाह्य रूप जितना आकर्षक है उसका आभ्यन्तर रूप भी उससे अधिक आकर्षक है। इसमे संदेह नही कि पुस्तक अत्यन्त उपयोगी और सारगर्भित है। इसमे धर्म के उत्तमक्षमादि दशलक्षणो का मार्मिक, तात्त्विक और व्यावहारिक विवेचन किया गया है। भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियो से पुस्तक उपादेय तथा पठनीय है। धर्म का वास्तविक स्वरूप समझने के लिए प्रत्येक श्रावक को इसका अध्ययन, मनन और चिन्तन अवश्य करना चाहिए। डॉ० भारिल्ल उच्चकोटि के लेखक और वक्ता हैं। — उदयचन्द्र जैन

★ **प्रो० प्रवीणचंद्रजी जैन, निदेशक, उच्चस्तरीय अध्ययन अनुसंधान केन्द्र, जयपुर**

डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल एक प्रबुद्ध आत्माभिमुख व्यक्तित्व हैं। उनकी वाणी मे ओज और शब्दो मे ऋजुता है। उनकी लेखनी से प्रसूत 'धर्म के दशलक्षण' नामक कृति इस ओर प्रवृत्त मानवो को तो अज्ञानमूलक रूढियो से हटाकर आत्मविभोर करेगी ही, साधारण-जन भी जिन्हें बहिर्मुख कहा या समझा जाता है यदि इसे एक बार आद्योपान्त पढ़ जाएँ तो निश्चय ही उनकी बहिर्मुखता अन्तर्मुखता की ओर गतिशील हो सकेगी। डॉ० भारिल्ल को इस बहुमूल्य रचना के लिए धन्यवाद अर्पित करते हुए मैं चाहता हूँ कि यह कृति जन-जन के हाथो मे पहुँचे और इसके अध्ययन से उनका जीवन सार्थक हो। जब ये लेख 'आत्मधर्म' मे प्रकाशित हो रहे थे तो मेरे मन मे आता था कि ये लेख पुस्तकाकार मे प्रकाशित हो जाएँ। मनचीता हो गया। — प्रवीणचंद्र जैन

★ **श्री भरतचक्रवर्ती जैन, शास्त्री, न्यायतीर्थ, मद्रास, प्र० सं० 'आत्मधर्म (तमिल)'**

""""इसमे निश्चय और व्यवहार का सामंजस्य करके दशो धर्मों का वर्णन किया है, जिसकी आवश्यकता वर्तमान समाज के लिए बडी जरूरी थी। लेखक महाशय ने अपनी कृति मे विस्तृत सरल लौकिक उदाहरणो द्वारा

आबाल-गोपाल की शैली मे वर्णन कर समाज के सामने एक अमूल्य निधि प्रदान की है, जिसकी प्रतीक्षा समाज लम्बे अरसे से कर रही थी। लौकिक उदाहरण प्रस्तुत कर जटिल विषयो को सरल बनाकर उत्कण्ठासहित पाठको को साथ ले जाने का जो उपक्रम है, वह मुक्तकण्ठ से प्रशंसनीय है। — भरतचक्रवर्ती शास्त्री

★ पं० अमृतलालजी जैन, साहित्याचार्य, वाराणसी (उ० प्र०)

'धर्म के दशलक्षण' ग्रंथ को मैंने अथ से इति तक शब्दश ध्यान से पढ़ा, और प्रसन्नता का अनुभव किया। विद्वान् लेखक ने प्रतिपाद्य विषय की सपुष्टि के लिए यत्र-तत्र-सर्वत्र आगम के प्रमाण देकर प्रस्तुत ग्रंथ को प्रामाणिक बनाने का भरसक प्रयत्न किया है। बीच-बीच में सुन्दर युक्तियो एव उदाहरणो के देने से प्रस्तुत ग्रथ और भी आकर्षक हो गया है। बोधगम्य, सरल एव सरस हिन्दी माध्यम से लिखा गया यह ग्रंथ साधारण पाठक को भी आसानी से समझ मे आ जाएगा। ऐसे ग्रथ के प्रणयन के लिए प्रणेता डॉ० भारिल्ल, जो प्रखरवक्ता, सिद्धहस्तलेखक एवं कुशल अध्यापक हैं; धन्यवाद एवं बधाई के पात्र हैं, और प्रकाशन संस्था भी। — अमृतलाल जैन

★ राजस्थान पत्रिका (इतवारी पत्रिका), दैनिक, जयपुर, ३ दिसम्बर १९७८

........डॉ० हुकमचद भारिल्ल ने पर्व के महत्त्व को मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से छूते हुए भाद्र मास मे जैन समाज द्वारा दशलक्षण पर्व के वास्तविक स्वरूप को पहिचानने की ओर इंगित किया है।........जैन शास्त्रो के व्याख्याता, दार्शनिक विचारक डॉ० हुकमचंद भारिल्ल द्वारा लिखी गई यह पुस्तक पठनीय, मननीय एवं धारण करने लायक है। — बिशनसिंह शेखावत

★ राष्ट्रदूत, दैनिक, जयपुर, २१ जनवरी १९७९

लेखक ने क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सयम, तप, त्याग, आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य के उत्तरोत्तर निखार पर प्रकाश डालते हुए व्यावहारिक जीवन मे इनके प्रयोगो पर जोर दिया है। जीवन के इन दश धर्मों अथवा चरित्र विकास के मार्ग मे आनेवाली बाधाओ को हटाने मे ये लेख सहयोगी हो सकते हैं।

दश चरित्र वाले मानवीय गुणो के विकास मे धार्मिक या साम्प्रदायिक रूढिग्रस्तता बधन नही हो सकती। उदात्त चरित्र के विकास व उसके लोक-व्यवहार मे ढालने से समाज स्वस्थ हो सकता है। इसी दृष्टिकोण से यह पुस्तक उपयोगी है। उन लोगो के लिए भी जो धर्म अथवा लोक-परलोक मे अधिक आस्थावान नहीं हैं, यह पुस्तक चारित्रिक गुण विकास दृष्टिकोण से तो लाभदायी सिद्ध हो सकती है।

पुस्तक उन लोगो को अवश्य आकर्षित करेगी जो इस दौड-धूप वाली दुनिया से निरत होने व शुद्ध चरित्र निर्माण मे सक्रिय भूमिका निबाहना चाहते हैं।

* **वीर (पाक्षिक), मेरठ, दिनांक १ जनवरी १९७९**

यह एक ऐसी अनुपम कृति है जिसका स्वाध्याय करके प्रत्येक व्यक्ति सहज ही आत्म-कल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा पाता है। श्रद्धेय डॉक्टर साहब ने दशधर्मों का स्वरूप बहुत विस्तार से, सरल भाषा मे प्रस्तुत करके महान उपकार किया है। पुस्तक अनेक ग्रथियो को खोलने तथा धर्म के नाम पर अज्ञानतारूपी अधकार को नष्ट करने मे सहायक है। एक तरफ जहाँ हमने धर्म को सकीर्णता के दायरे मे जकड रखा है, डॉक्टर साहब ने उससे ऊपर उठकर उसे जन-जन के हृदय तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। डॉ० भारिल्ल ने इस प्रकार विश्लेषण किया है कि पुस्तक एक बार हाथ मे लेकर उसे छोडने को मन ही नही करता। डॉ० भारिल्ल एक मर्मज्ञ विद्वान् हैं। उन्होने इस ग्रथ की रचना करके मानव समाज पर महान उपकार किया है। — **राजेन्द्रकुमार जैन**

* **वीरवाणी (पाक्षिक), जयपुर, ३ दिसम्बर १९७८, वर्ष ३१, अंक ४–५**

..... डॉ० भारिल्ल ने सरल व रुचिकर भाषा मे धर्म के इन लक्षणो का बडे सुन्दर ढग से वर्णन किया है। दृष्टान्त द्वारा तत्त्व को समझाना उनकी अपनी विशेषता है जो इस पुस्तक मे सर्वत्र देखी जाती है।....क्षमा-मार्दव आदि सभी विषयो मे पूजा की पक्तियो को लेकर पाठक को खूब समझाया है।....यह नवीन शैली की कृति अपनी विशेषता रखती है। पाठक इससे अवश्य लाभान्वित होगे। क्षमावाणी पर अच्छा लिखा है। — **भँवरलाल न्यायतीर्थ**

* **जैनपथ प्रदर्शक (पाक्षिक), विदिशा, १६ नवम्बर १९७८, वर्ष २, अंक ३९**

समाज के जाने-पहिचाने प्रसिद्ध विचारक दार्शनिक विद्वान् डॉक्टर हुकमचद भारिल्ल की यह कृति विषयवस्तु, भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियो से परिपक्व एव अत्यन्त उपयोगी है। यद्यपि इसकी विषयवस्तु परम्परागत ही है तथापि विषय-विवेचन एव प्रतिपादन-शैली से वह एकदम नये रूप मे प्रस्तुत हुई है।... इन निबन्धों को पढकर हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध निबधकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मनोविकारो पर लिखे गये निबन्धों की याद ताजी हो उठती है। क्षमावाणी का निबन्ध तो अपने ढग का बिलकुल ही अनूठा है, इसे अद्वितीय भी कहा जा सकता है। — **रतनचंद भारिल्ल**

* **सन्मति-वाणी (मासिक), इन्दौर, दिसम्बर १९७८, वर्ष ८, अक ६**

प्रशिक्षण शिविर और दशलक्षण पर्व के अवसरो पर प्रभावक वक्ता और लेखक डॉ० हुकमचदजी भारिल्ल द्वारा दिये गये विशेष व्याख्यानो का यह सुन्दर सग्रह सभी के लिये उपयोगी है। यह दशलक्षण सम्बन्धी आध्यात्मिक प्रवचन अन्य प्रवचनकारो के लिये मार्गदर्शन-स्वरूप हैं। डॉ० भारिल्ल की प्रवचन शैली आकर्षक होने से आज इन विषयो का विशेष महत्त्व है। — **नाथूलाल शास्त्री**

★ **सन्मति संदेश (मासिक), दिल्ली, जनवरी १९७९**

दशलक्षण धर्मों के चिन्तनीय स्वरूप को आत्मधर्म मे आद्योपान्त पढकर मेरी भी यही भावना थी कि यदि ये पुस्तकाकार प्रकाशित हो जावें तो जिज्ञासु जीवो को धर्म का मर्म समझने मे अत्यधिक प्रेरणा मिलेगी।····इसमे दशधर्मों पर सरल-सुवोध भाषा मे प्रकाश डाला है, धर्म के अन्त.स्वरूप का आगम और तर्क के परिपेक्ष्य मे हृदयस्पर्शी, मार्मिक विवेचन प्रस्तुत किया है। डॉ० भारिल्ल धर्म के स्वरूप को वड़ी सूक्ष्मदृष्टि और तर्क की कसौटी पर कसकर मननीय वना देते हैं, साथ मे रोचकता भी वनी रहती है। — **प्रकाशचंद 'हितैषी'**

★ **डॉ० देवेन्द्रकुमारजी शास्त्री, व्याख्याता, शासकीय महविद्यालय, नीमच (म०प्र०)**

निवन्धो के रूप मे तात्विक विश्लेषण प्रस्तुत करने वाली यह रचना जिस धरातल पर लिखी गई है वह सचमुच अनूठी है। इसमे ज्ञान का पुट तो है ही, पर विवेचन की सहज स्फीत शैली मे दृष्टान्तो का प्रयोग भी पर्याप्त रूप से लक्षित होता है। कही-कही व्यग्य भी मुखर हो उठा है। धर्म के दश लक्षणो का विवेचन करने मे विभिन्न दृष्टियो का भी उचित समावेश हुआ है। मनोविज्ञान और विभिन्न सामाजिक प्रवृत्तियो के सदर्भ मे इसका मूल्याकन सभी प्रकार से महत्त्वपूर्ण है।

इस पुस्तक की सवसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि प्रत्येक वात इतनी स्पष्टता के साथ युक्तिपूर्ण ढग से कही गई है कि आदि से अन्त तक रोचकता परिलक्षित होती है। वास्तव मे निवव की शैली मे ये भाषण ही है। लेखक के सामने श्रोता है, वह स्वयं वक्ता है। इसलिये उनको समझाने की दृष्टि से जितनी वातें कही जा सकती हैं उनको क्रमवद्ध रूप मे कहा है। इससे लेखक का व्यक्तित्व स्पष्ट रूप से इनमे झाँकता हुआ दिखलाई पडता है। अपनी वात को प्रभावपूर्ण वनाने के लिए चलती हुई भाषा के शब्द-प्रयोगो का भरपूर उपयोग किया गया है। चलती हुई भाषा मे ही लेखक की 'टोन' का पैनापन मालूम पडता है और इसी के कारण पुस्तक मे सर्वत्र नयापन आ गया है। क्योकि तर्क और युक्तियां किसी सीमा तक ही अपने विषय को स्थापना करने मे सक्षम होती है। लेखक ने उनको छोड़ा नही है, घुमा-फिराकर उनसे वरावर काम लिया है, लेकिन उनके आगे अपनी शैली की छाप लगाने मे भी नही चूका है। वही लेखक की सवसे वडी सफलता है जो उसकी प्रतिभा की सूझ-वूझ को प्रकट करने वाली है।

लेखक का विषय-विवेचन ऐसा है कि साधारण व्यक्ति भी विना किसी कठिनाई के सरलता से समझ सकता है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत अश

है – "सारी दुनिया परिग्रह की चिन्ता मे ही दिन–रात एक कर रही है, मर रही है। कुछ लोग पर-पदार्थो के जोड़ने मे मग्न हैं, तो कुछ लोगो को धर्म के नाम पर उन्हे छोडने की धुन सवार है। यह कोई नहीं सोचता कि वे मेरे हैं ही नही, मेरे जुडने से जुड़ते नही और ऊपर से छोड़ने से छूटते भी नही।" यद्यपि कही २ लेखक की टोन उग्र हो गई है, किन्तु विषय के प्रतिपादन मे ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योकि इसके विना उसकी वात मे वल नही आ सकता था। फिर, ऐसा भी लगता है कि रचना मे आदि से अन्त तक इसी प्रकार की अभिव्यक्ति होने से यह लेखक का अपना व्यक्तिगत गुण है जो उसके व्यक्तित्व की अभिव्यजना के साथ प्रकट हो गया है। इसलिये यह विशेषता ही मानी जायेगी।

यद्यपि धर्म के दश लक्षणो को दश धर्म मानकर आज तक जैन समाज में कई छोटी-वडी पुस्तकें लिखी जा चुकी है और उनका कई बार प्रकाशन भी हो चुका है; किन्तु जिस तरह की यह पुस्तक लिखी गई है, निस्सन्देह यह अनूठी है। इसकी विलक्षणता यह है कि इस मे निश्चय और व्यवहार दोनो ही दृष्टियो का सन्तुलन कर धर्म की वास्तविकता का विवेचन किया गया है। सही वात को समझाने का वरावर ध्यान रखा गया है।

सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि डॉ० हुकमचन्द भारिल्ल की यह महत्त्वपूर्ण रचना न केवल अध्यात्म-दृष्टि वालो के लिए ही उपयोगी है, वल्कि व्यवहार की बुद्धि रखने वाले भी इसे पढ़कर व्यवहार की सचाई को भी स्वय समझ सकते हैं। दशलक्षणी पर्व मे व्याख्यान देने वाले पण्डितो के लिए तो इस पुस्तक का एक वार वाचन कर लेना – मैं अनिवार्य समझता हूँ। जब तक हम अपनी वास्तविकता को नही समझेंगे, तव तक भली भाति सिद्धान्तो से अनवूझ जनता को कैसे समझा सकते हैं? फिर प्रत्येक विषय का लेखक ने विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार किया है। इसलिये यह माना लेना अनुचित होगा कि विद्वान लेखक ने अपने शिष्यो व भक्तो के लिए ही उक्त रचना का निर्माण किया है।

आशा है विद्वज्जन ऐसी रचनाओ का अवश्य आदर करेंगे।

– देवेन्द्रकुमार शास्त्री

